भारतीय प्रागितिहास

डॉ० राधाकान्त वर्मा

भारतीय प्रागितिहास

भाग-प्रथम

[मूल-भूत सिद्धान्त]

प्राक्कथन

प्रो० एच० डी० सांकलिया

डेक्कन कॉलेज-पूना

आमुख

प्रो० जी० आर० शर्मा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

वाराणसी ▫ इलाहाबाद

१९७०

भारतीय प्रागितिहास

भाग-प्रथम

[मूल-भूत सिद्धान्त]

डॉ० राधाकान्त वर्मा
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

परमज्योति प्रकाशन
वाराणसी ◻ इलाहाबाद १९७०

अपनी जीजी
[दादी–श्रीमती दुलहिन अष्टभुजी देवी]
की पुण्य-स्मृति में
सादर समर्पित

प्राक्कथन

यद्यपि प्रागितिहास नवीन विषय है फिर भी युवकों और वृद्धों, इतिहास और विज्ञान [भू-गर्भ शास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र] के विद्यार्थियों के लिए समान रूप से ज्ञान का सर्वाधिक रोचक स्रोत है। दुर्भाग्यवश यह भारतीय विद्याविदों (विद्वानों) का अंशमात्र [नहीं के बराबर] ध्यानाकर्षण कर सका, अतः साधन या क्षेत्र के अभाव में जिज्ञासु एक सीमित परिधि में ही घूमने के लिए विवश है। छः वर्ष पूर्व मैंने सर्वथा भारतीय साक्ष्यों से युक्त एक पुस्तक लिखी थी, किन्तु अभी तक यह अंग्रेजी में है, अतः भारत के कोने-कोने में नहीं पहुँच सकी थी। यह आवश्यकता डॉ० राधाकान्त वर्मा की इस पुस्तक प्रागितिहास से पूरी हो सकेगी।

डॉ० वर्मा ने मेरी पुस्तक का मात्र उपयोग ही नहीं किया, वरन् अपने अनुभव से विचारणीय दृष्टान्त भी जोड़े हैं, जिससे यह पुस्तक अद्यतन हो सका है। मैं चाहता हूँ कि वे इस विषय पर हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखें। अनुभव और अभ्यास की दृष्टि से वे इस कार्य में सु-समर्थ हैं।

हिन्दी तथा अन्य देशज, स्थानीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दावली के लिए संस्कृत या अरबी की सहायता से नए शब्द गढ़ना या निरथक शब्द-रचना यथा "नोसस्क्रेपर' आदि अनुचित है। उचित शब्दावली के चयन के लिए तत्सम्बद्ध विभिन्न कारीगरों के पास जाना चाहिए और देखना चाहिए कि वे किन नामों का प्रयोग करते हैं। जो भी हो भाषा सजीव होनी चाहिए, शिथिल या बनावटी नहीं।

उपर्युक्त बातें पुस्तक के गुणापकर्ष के लिए नहीं कही गई हैं, किन्तु यह मात्र उन कठिनाइयों को व्यक्त करती हैं जिन्हें ज्ञान की प्रत्येक शाखा का अगुआ-पहल करने वाला झेलता है। हिन्दी-भाषियों के लिए इस बहुमुखी विषय को प्रस्तुत करने का डॉ० राधाकान्त का यह प्रयत्न वास्तव में पुरोगामी है।

हँसमुख धीरजलाल सांकलिया

डेक्कन कॉलेज,
पूना-६
१२-१०-७०

आमुख

मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के सम्यक् अध्ययन के लिए प्रागितिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य की विकास-यात्रा का अधिकांश समय प्रागितिहास की ही विषय-वस्तु है। अपने अस्तित्व के उषस् काल में मनुष्य एवं उसके सहवर्ती पशुओं की जीवन-पद्धति में विशेष अन्तर नहीं था। किन्तु अपने बौद्धिक तत्त्व के कारण मनुष्य ने शनैः शनैः न केवल पशु-जगत् पर ही अपना प्रभुत्व स्थापित किया, अपितु प्रकृति पर भी वह अंशतः विजयी रहा।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने प्रागितिहास के आधारभूत सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन किया है। पुस्तक के प्रथम दो अध्यायों में प्रागितिहास की विषय-वस्तु, उसके क्षेत्र तथा आदि मानव के परिवेश का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में भारत में प्रागितिहास के अध्ययन से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली की समस्या पर विचार किया गया है। चतुर्थ एवं पञ्चम अध्यायों में प्रागैतिहासिक उपकरणों के निर्माण की प्रविधियों तथा उनके विविध प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के काल-क्रम को निर्धारित करने वाली विभिन्न पद्धतियों का वैज्ञानिक तथा सुबोध विवेचन है। उक्त विषयों के विश्लेषण में लेखक सफल रहा है।

हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक विषयों पर इस तरह के प्रामाणिक ग्रन्थों का सर्वथा अभाव है। स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिन्दी माध्यम से अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए यह बड़ी कठिनाई है। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को हिन्दी में लिखकर एक बड़े आभाव की पूर्ति की है। भाषा शैली की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त सराहनीय है। लेखक ने प्रागितिहास सदृश दुरूह विषय को अधिक ग्राह्य एवं बोधगम्य बनाने के लिए रेखाचित्रों का व्यापक रूप से प्रयोग किया है।

आशा है, यह पुस्तक न केवल विद्यार्थियों के लिए ही वरन् अन्वेषकों एवं विद्वानों के लिए भी समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

गोवर्धन राय शर्मा

विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

भूमिका

आधुनिक विषयों में प्रागितिहास नवीनतम है। इसका, विशेष रूप से भारतीय प्रागितिहास का, अध्ययन अभी भी, अपनी किशोरावस्था में ही है। पाश्चात्य अथवा भारतीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में जो कुछ भी प्रगति की है उसका विवरण अधिकांशतया अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में ही मिलता है। हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं में इस क्षेत्र में कोई भी कार्य नहीं हुआ है। इधर कुछ वर्षों में हिन्दी भाषा की अपूर्व उन्नति हुई है। अनेक विश्वविद्यालयों में भी पठन-पाठन का माध्यम हिन्दी हो गया है, किन्तु पुस्तकों के अभाव के कारण यह कार्य नितान्त दुरुह है।

उपर्युक्त अभाव को ध्यान में रख कर ही प्रस्तुत पुस्तक की योजना बनाई गई। हिन्दी में प्रागितिहास पर पुस्तक लिखने में अनेक कठिनाइयाँ थी। सर्वप्रमुख कठिनाई पारिभाषिक शब्दों का चयन था इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि विदेशी भाषा के सभी शब्दों के स्थान पर देशी भाषा में संस्कृत आदि की सहायता से शब्दों को बनाना चाहिए। इस सम्बन्ध में, मैं डॉ० सांकलिया के मत से पूर्णतः सहमत हूँ कि "हिन्दी तथा अन्य देशज, स्थानीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दावली के लिए संस्कृत या अरबी की सहायता से नए शब्द गढ़ना या निरर्थक शब्द-रचना यथा 'नोस स्क्रेपर' आदि अनुचित हैं।" जहाँ तक हो सका है पुस्तक में इस पर विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ नये शब्द अवश्य बनाये गए हैं, किन्तु अधिकांशतया वे ऐसे ही शब्द हैं जिनसे आकार का बोध होता है, जैसे अर्धचान्द्रिक (Lunate), आक्षिक (Oblate) आदि। बहुत से अंग्रेजी शब्दों—जैसे हैण्डऐक्स (Handaxe), स्क्रेपर (Scraper), क्लीवर (Cleaver) आदि को उनके मूल स्वरूप में ही अपना लिया गया है यद्यपि उनमें से बहुत से शब्दों का यदि शाब्दिक अर्थ लें तो वे भ्रामक एवं निरर्थक हैं। उनको अपनाने का मूल कारण यह था कि वर्षों के निरन्तर प्रयोग से उन शब्दों का विशेष महत्त्व हो गया है जिनको किसी भी दूसरे शब्द से बदलना उनके प्रति अन्याय होगा। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, मेरा विचार है कि कुछ विदेशी भाषा के शब्दों के प्रयोग से हिन्दी लाभान्वित ही होगी। सैद्धान्तिक रूप से अंग्रेजी अथवा अन्य भाषा के शब्दों को हिन्दी में आत्मसात करके उसे अधिक जागरूक बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हमें अपना दृष्टिकोण व्यापक रखना चाहिए।

प्रागितिहास के आधारभूत तत्वों पर यों तो अंग्रेजी भाषा में अनेक पुस्तकें हैं, किन्तु उनमें भी डॉ० सांकलिया के 'स्टोन एज टूल्स' को छोड़कर सभी विदेशी दृष्टान्तों पर आधारित हैं। डॉ० सांकलिया ने अपनी पुस्तक में उपकरणों पर ही अधिक महत्व दिया है एवं अन्य पक्ष गौण रूप से वर्णित है। हिन्दी में प्रागितिहास के इस पक्ष पर कोई भी पुस्तक नहीं थी। अतः प्रस्तुत पुस्तक की रचना में इस पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। पुस्तक के द्वितीय भाग में भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृतियों की विवेचना की गई है। यदि पुस्तक के दोनों भाग, भारतीय प्रागितिहास के विद्यार्थियों एवं अन्वेषकों के लिए उपयोगी हो सके तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में मुझे अनेक लोगों से प्रेरणा एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। प्रो० साँकलिया का मैं विशेष आभारी हूँ। उन्होंने मुझे केवल प्रोत्साहित ही नहीं किया, अपितु अपना बहुमूल्य समय देकर पुस्तक का प्राक्कथन भी लिखा है। प्रो० शर्मा जी के प्रति मैं अपना आभार सम्यक् रूप से प्रदर्शित करने में असमर्थ हूँ। पुस्तक के प्रारम्भ से आमुख लिखने तक सदैव ही उनकी प्रेरणा और मार्ग प्रदर्शन मुझे प्राप्त रहा है जिसके बिना पुस्तक का प्रणयन असम्भव था।

पुस्तक की रचना में विभाग के सभी सदस्यों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया है। सम्मिलित रूप से मैं उन सभी का कृतज्ञ हूँ। अपने गुरुजनों श्री जसवन्त सिंह नेगी, डॉ० उदय नारायण राय, डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव तथा सहयोगी डा० सिद्धेश्वरी नारायण राय, श्री शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, डॉ० विनोद चन्द्र श्रीवास्तव, श्री रामकृष्ण द्विवेदी तथा बृज बिहारी मिश्र का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने सदैव मेरे कार्यों में अभिरुचि ली है।

सर्वश्री हर्षनाथ कर, लक्ष्मीकान्त तिवारी, एस० के० ठाकुर तथा वीरेन्द्रनाथ राय का भी मैं आभारी हूँ। ठाकुर तथा तिवारी ने चित्र सं० ३, ४, ५ के बनाने में विशेष सहयोग दिया है। श्री महेश चन्द्र दीक्षित तथा किशोरी लाल का मैं कृतज्ञ हूँ जिनका सहयोग मुझे सुलभ रहा है।

सरस्वती ब्लाक वर्क्स जिसने सभी ब्लाक बनाये तथा श्री शिवचन्द्र ओझा जिन्होंने पुस्तक की 'प्रूफ रीडिंग' विशेष लगन तथा रुचि के साथ की है धन्यवाद के पात्र हैं। धारा प्रेस के अधिकारीगण विशेष रूप से श्री श्रीप्रकाश जी का भी मैं अनुगृहीत हूँ जिन्होंने पुस्तक के मुद्रण में सुरुचि तथा धैर्य का प्रदर्शन किया है।

श्री विद्याधर मिश्र तथा श्री धनेश्वर मण्डल के प्रति सम्यक् आभार प्रदर्शन सरल नहीं है। पुस्तक की पाण्डुलिपि के तैय्यार करने से मुद्रण तथा प्रस्तुत रूप में लाने तक की सभी अवस्थाओं में उन्होंने विविध प्रकार से सहयोग दिया है। उनका मैं ऋणी हूँ।

भैय्या (पिता-श्री उमाकान्त वर्मा) तथा परिवार के अन्य लोगों का मैं सदैव ही ऋणी रहूँगा जिनके स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन से ही यह रचना सम्भव हो सकी। अपनी पत्नी श्रीमती नीरावर्मा, एम० ए० का भी आभारी हूँ जिन्होंने गृहस्थी के कार्यभारों के होने पर भी पुस्तक के प्रणयन में ही, विविध प्रकार से सहयोग नहीं दिया, अपितु प्रकाशन का कार्य-भार भी ग्रहण किया।

२५, लाउदर रोड,
इलाहाबाद
१४-१०-७०

राधाकान्त वर्मा

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

तालिका

पृष्ठ संख्या

रेखा चित्र-सूची

चित्र सं०

चित्र सं०		पृष्ठ संख्या
२६—त्रिभुजाकार हैण्डऐक्स	....	६९
२७—बरछाकार हैण्डऐक्स	....	६९
२८—बादामाकार हैण्डऐक्स	....	६९
२९—छेनी कार्यांग हैण्डऐक्स	....	७०
३०—चंक पर बने हैण्डऐक्स	....	७०
३१अ—'U' आकृति-क्लीवर	....	७३
३१ब—चौकोर समन्तान्त क्लीवर	....	७३
३२—नुकीला समन्तान्त क्लीवर	....	७३
३३—कार्यांग के निकट फैली भुजा वाले क्लीवर	....	७३
३४—पार्श्व-स्क्रेपर	....	७६
३५—अन्तस्थ स्क्रेपर	....	७६
३६—वृत्तात्मक स्क्रेपर	....	७७
३७—पार्श्व-स्क्रेपर	....	८०
३८—अन्तस्थ स्क्रेपर	....	८०
३९—वृत्ताकार स्क्रेपर	....	८०
४०—नतोदर कार्यांग स्क्रेपर	....	८०
४१—नासिका स्क्रेपर	....	८१
४२—खात स्क्रेपर	....	८१
४३—मध्योभार स्क्रेपर	....	८१
४४—द्वयंत स्क्रेपर	....	८२
४५—छिद्रक स्क्रेपर	....	८२
४६—साधारण अस्त्राग्र	....	८२
४७—उभयपक्षीय अस्त्राग्र	....	८३
४८—प्राथमिक पुच्छल अस्त्राग्र	....	८३
४९—द्विस्कंध अस्त्राग्र	....	८४
५०—छिद्रक	....	८४
५१—अनगठित ब्लेड	....	८५
५२—रेखित-चिह्न	....	८६
५३—एक पार्श्व पुनर्गठित ब्लेड	....	८६
५४—द्विपार्श्व पुनर्गठित ब्लेड	....	८६
५५—भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड	....	८७
५६—भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड तिरछा पार्श्वान्त कार्यांग	....	८७
५७—तिरछा भुथड़ा-पार्श्वान्त ब्लेड	....	८७
५८—तिरछा भुथड़ा पृष्ठ-ब्लेड	....	८७

चित्र सं० | पृष्ठ संख्या

चित्र सं० पृष्ठ संख्या

आभार

पुस्तक में दिए निम्नलिखित चित्र अन्य विद्वानों की पुस्तकों में दिए चित्रों पर आधारित हैं। उनके लिए मैं हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ।

चित्र सं १२, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१ टी० टी० पेटरसन तथा एच० जे० एच० ड्रमन्ड के 'Soan the Palaeolithic of Pakistan' में दिए चित्रों पर आधारित हैं।

चित्र सं० २२, २८, ६०, ६१, ६२ एम० सी० बर्किट की पुस्तक 'The Old Stone Age में दिए चित्रों पर आधारित हैं।

चित्र सं० ३३, ३५, ४०, ४५, ४७, ४८, ५१, ८४, १०४ डा० सांकलिया की पुस्तक 'The Stone Age Tools' के चित्रों पर आधारित हैं।

चित्र सं० १०३, १०८, १०९, ११२ डा० सुब्बाराव के 'Stone Age Cultures Of Bellary' के चित्रों पर आधारित हैं।

चित्र सं० १०५, ११६, ११७, ११८, १११, १२० वी० डी० कृष्णास्वामी के लेख The Neolithic Pattern of India के' चित्रों पर आधारित हैं।

संक्षेपण

AI.	Ancient India.
BDCRI.	Bulletin of the Deccan College Research Institute.
BLUIA.	Bulletin of the London University Institute of Archaeology.
EA.	Eastern Anthropologist.
IA.	Indian Archaeology—A Review
JRAI.	Journal Royal Anthropological Institute.
PPS.	Proceeding of the Prehistoric Society of East Anglia
SAAB.	South African Archaeological Bulletin.

प्रागितिहास

मानविकी शास्त्रों (Humanities) में प्रागितिहास अपेक्षाकृत नवागन्तुक है। स्वतन्त्र विषयों की सूची में इसका उल्लेख उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नहीं मिलता है, किन्तु उत्तरार्द्ध में यूरोप के प्रायः सभी देशों में इसकी गणना एक स्वतन्त्र विषय के रूप में होने लगती है। फ्रेंच में इसे प्रीस्त्वायर (Pre'histoire), इटेलियन में प्रीइस्तोरिया (Preistoria), जर्मन में फोरगेशिक्खते (Vorgeschichte) तथा डेनिश् में ग्रोल्डटिड (Oldtid) कहा गया है। अंग्रेजी में इसी के लिए प्रीहिस्ट्री (Prehistory) शब्द का प्रयोग हुआ। अंग्रेजी भाषा में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १८५१ में डेनियल विल्सन ने अपनी पुस्तक 'दी अर्वयोलाजी एण्ड प्रीहिस्टारिक एनाल्स ग्राव स्काटलैण्ड' में किया है। तत्पश्चात् क्रमशः इसका प्रयोग होने लगा और कालान्तर में यह अंग्रेजी भाषा का एक सामान्य शब्द बन गया।

हिन्दी का प्रागितिहास [प्राक्+इतिहास] अंग्रेजी के प्रीहिस्ट्री (Prehistory) का शाब्दिक अनुवाद है। इस शब्द का प्रयोग मानव के उस आदि काल के इतिहास के लिए किया गया है, जबकि मानव मानवेतर स्थिति से विकसित होकर मानव बन रहा था। यह उसके प्रारम्भिक प्रगति की कहानी है। किन्तु यदि प्रागितिहास का केवल शाब्दिक अर्थ लिया जाय, तो वह अत्यन्त भ्रामक प्रतीत होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है इतिहास के पूर्व का युग। यदि इतिहास का तात्पर्य केवल मानव इतिहास से ही है, तो इस प्रकार का युग कल्पनातीत है। शब्दों का अर्थ प्रायः उनके प्रयोगानुसार समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। ऐसी स्थिति में उनके शाब्दिक अर्थ पर ध्यान नहीं देना चाहिए। प्रारम्भ में इतिहास का प्रयोग मनुष्य के सम्पूर्ण अतीत के लिए किया जाता था। किन्तु जैसे-जैसे मानव इतिहास का क्षेत्र विस्तृत होता गया वैसे-वैसे इस शब्द के गुणार्थ तथा वस्त्वर्थ में भी परिवर्तन होता गया। आधुनिक काल में यह बहुत सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऐतिहासिक काल अब प्रायः केवल उतने मानव-इतिहास के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसके ज्ञान के लिए लिखित सामग्री उपलब्ध है। इस प्रकार ऐतिहासिक काल में केवल उन साक्षर समाजों के इतिहास की गणना की जाती है, जिनके विषय में लेखनी से प्रकाश पड़ता हो। इस दृष्टिकोण से उन साक्षर समाजों का इतिहास भी ऐतिहासिक काल की परिधि से परे है, जिनकी लेखनी अभी पढ़ी नहीं जा सकी है। दूसरे शब्दों में ऐसे तथा सभी निरक्षर समाजों के इतिहास प्रागितिहास के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

इन दो प्रमुख विभाजनों के अतिरिक्त प्रायः एक तीसरा विभाजन आद्यैतिहासिक काल (Proto-historic Period) भी सुविधा की दृष्टि से किया जाता है। आद्यैतिहासिक काल वास्तव में प्रागैतिहासिक

काल तथा ऐतिहासिक काल के मध्य की कड़ी है, जो इन दो प्रमुख विभाजनों को एक दूसरे के निकट लाती है। इस काल में प्रागैतिहासिक काल तथा ऐतिहासिक काल एक दूसरे में समाहित हो जाते हैं। अपनी विशेष स्थिति के अनुरूप इस काल में दोनों ही विभाजनों की विशेषताएँ मिलती हैं। प्रागैतिहासिक कालीन इतिहास के अनुरूप इस युग के इतिहास पर लिखित प्रमाणों से कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता है, किन्तु लिखित साक्ष्यों के अतिरिक्त उनके इतिहास के ज्ञान संवर्धन के लिए वे सभी प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जो ऐतिहासिक काल के इतिहास जानने के लिए प्रायः सुलभ हैं। भारत में इस प्रकार की आद्यैतिहासिक कालीन सभ्यताओं में हरप्पा सभ्यता विशेष उल्लेखनीय है। इस सभ्यता के लोग एक प्रकार की चित्रलिपि से अवगत थे, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने मुहरों में किया है। उत्कीर्ण मुद्राएँ जो इस सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों से मिली हैं, इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि हरप्पा सभ्यता के लोग लेखनी से अवगत थे। किन्तु यह विशेष उल्लेखनीय है कि उनकी लेखनी अभी पढ़ी नहीं जा सकी है, अतः उससे उनके इतिहास पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। भारतीय इतिहास में इसीलिए इस सभ्यता को ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है। इसकी गणना आद्यैतिहासिक काल में की जाती है। हरप्पा की सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों पर हुए उत्खननों से इस सभ्यता के विभिन्न अंगों पर समुचित प्रकाश पड़ता है, जिससे प्रायः वे सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं, जो किसी ऐतिहासिक काल की सभ्यता के विषय में आवश्यक होती हैं। अपनी विशेषताओं के कारण न तो यह प्रागैतिहासिक काल में आती है और न ऐतिहासिक काल में, इसीलिए इसे आद्यैतिहासिक सभ्यता के अन्तर्गत रखते हैं।

भारत में प्रायः सभी पाषाणयुगीन सभ्यताओं को प्रागितिहास में, धातुयुगीन सभ्यताओं को, जिनके विषय में लिखित प्रमाणों से प्रकाश नहीं पड़ता है, आद्यैतिहास में तथा उनके बाद की अथवा जिन सभ्यताओं के सम्बन्ध में लिखित प्रमाणों से प्रकाश पड़ता है, उन्हें ऐतिहासिक-कालीन सभ्यताओं के अन्तर्गत रखा जाता है।

प्रागैतिहासिक मानव का इतिहास प्रकृति-जगत् तथा पशुजगत् के विकास के इतिहास से इतना आबद्ध है कि उसके विकास का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से नहीं किया जा सकता है। अपने अध्ययन के लिए उसे प्राकृतिक विज्ञानों—भूतत्व विज्ञान (Geology), जीवाश्म विज्ञान (Palaeontology) तथा नृतत्व-शास्त्र (Anthropology) आदि की सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है। भूतत्व विज्ञान पृथ्वी के निर्माण एवं विकास का अध्ययन करता है। आदि मानव का इतिहास पृथ्वी के निर्माण एवं विकास के ही साथ संलग्न है। इसके कालक्रम (Chronology) का ज्ञान भूतत्व के स्तरीकरण (Stratigraphy) पर मुख्यतः आधारित है और यही प्रागितिहास की आधारशिला है। प्रागैतिहासिक मानव के काल-निर्धारण का यही एकमात्र साधन है। मनुष्य के उद्भव का इतिहास इतना प्राचीन है कि उसकी गणना वर्षों में कर सकना असम्भव है, अतः वह प्रायः भौतात्विक-कल्पों (Geological Ages) में की जाती है। इसके अतिरिक्त प्रागैतिहासिक भूगोल और जलवायु का अध्ययन प्रागैतिहासिक मानव के विकास को समझने के लिए आवश्यक है। मानवेतर स्थिति से मानवसम (Homonid) तथा मानव (Homo sapien) बनने में उसे सहस्रों वर्ष लगे होंगे। इस दीर्घ काल में पृथ्वी के धरातल तथा जलवायु में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिन्होंने मानव को विभिन्न प्रकार से प्रभावित ही नहीं किया है, अपितु उसके जीवन-धारा का निर्देश भी किया है। प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करने के लिए उसे समय-समय पर नवीन उपादानों का प्रयोग करना पड़ा। प्रकृति ने उसके रहन-सहन को,

उसकी खान-पान सम्बन्धी समस्याओं को समयानुसार प्रभावित भी किया होगा। प्रकृति के धरातल पर हुए इन परिवर्तनों का अध्ययन प्रागैतिहासिक भूगोल और जलवायु पर आधारित हैं, जिनका ज्ञान स्वयं भूतत्व विज्ञान के अध्ययन पर आधारित है।

पृथ्वी के निर्माण एवं विकास का अध्ययन भूतत्ववेत्ता जीवाश्मों (Fossils) के आधार पर करते हैं। विभिन्न भौतात्विक-कल्पों का विभाजन विशेष प्रकार के जीवाश्मों पर ही आधारित है। नवीन प्रकार के जीवों का विकास नवीन कल्प का आह्वान करता है। यद्यपि जीवाश्म निरपेक्ष तिथि (Absolute-date) का निरूपण नहीं कर सकते, किन्तु वे निश्चय ही सापेक्ष काल-निर्धारण (Relative-date) के लिए विशेष उपयोगी होते हैं। जीवाश्मों के प्रकार के आधार पर ही पृथ्वी के विभिन्न स्तरों की सापेक्ष तिथि भौतात्विक-कल्पों (Geological Ages) में निर्धारित की जाती है। जैसे, जिस स्तर से हमें हाथी (Elephas), घोड़े (Equus) तथा बैल-भैंस (Bos) के जीवाश्म मिलने लगते हैं उसे तथा उसके ऊपर के स्तरों को प्रायः प्रातिनूतन काल (Pleistocene Period) अथवा उसके बाद के काल में रखा जाता है। इन जीवाश्मों का अध्ययन जीवाश्म-विज्ञान के अन्तर्गत आता है। इसका अध्ययन पुरा-वनस्पति-शास्त्र (Palaeo-botany) तथा पुरा-प्राणिविज्ञान (Palaeo-zoology) के माध्यम से होता है। पुरा-वनस्पति-शास्त्र तथा पुरा-प्राणिविज्ञान प्रागैतिहासिक जलवायु पर भी प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार प्रागैतिहासिक मानव के अध्ययन के लिए इन प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) का अध्ययन भी विशेष आवश्यक है।

इन प्राकृतिक विज्ञानों के अतिरिक्त प्रागितिहास को रसायन-शास्त्र (Chemistry) तथा भौतिक-शास्त्रों (Physical Sciences) की भी सहायता लेनी पड़ती है। विभिन्न स्तरों से प्राप्त सामग्री का रासायनिक परीक्षण उनके स्तरीकरण तथा सह-सम्बन्धीकरण (Correlation) में सहायक होता है। भौतिक-शास्त्र का महत्व वैज्ञानिक तिथि-विधियों के कारण बहुत बढ़ गया है। कुछ काल पूर्व तक निरपेक्ष तिथि के साधन नगण्य मात्र थे। कम से कम प्रागैतिहासिक मानव-तिथि के निर्धारण के लिए कोई भी साधन नहीं था। किन्तु भौतिक-विज्ञान के नवीन विधियों के आविष्कार ने यह सुलभ कर दिया है। पोटेशियम-आरगान (Potassium Argon) तथा कार्बन १४ (C^{14}) कुछ इस प्रकार की विधियाँ हैं, जिनसे प्राचीन मानव की निरपेक्ष तिथि का अनुमान किया जा सकता है। कार्बन १४ विधि अभी ४० या ५० हजार वर्षों से अधिक की तिथि निर्धारित करने में असमर्थ है, किन्तु पोटेशियम-आरगान (K 40/A 40) विधि के द्वारा कई सहस्र वर्ष प्राचीन वस्तु की तिथि का भी निर्धारण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इस प्रकार, कम से कम, तिथि के संदर्भ में भौतिक-विज्ञान का बहुत बड़ा योगदान है तथा निरपेक्ष तिथि भौतिक-विज्ञान की सहायता के बिना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है।

मानव के क्रिया-कलापों तथा अनुभवों का सर्वांगीण अध्ययन नृतत्व-शास्त्र का चरम उद्देश्य है। नृतत्व-शास्त्र के मुख्यतः दो अंग है—जैविक (Physical) तथा सामाजिक (Social)। जैविक नृतत्व-शास्त्र मानव के शारीरिक अवशेषों का अध्ययन करता है। किस प्रकार मानव का शारीरिक विकास हुआ तथा मानवाकृति के आधार पर कितने प्रकार की मानव-जातियाँ (Races) हैं आदि का अध्ययन नृतत्व-शास्त्र के अन्तर्गत आता है। किन्तु उसके समाज का विकास किस प्रकार हुआ इसका अध्ययन सामाजिक-सांस्कृतिक नृतत्व-शास्त्र (Social Cultural Anthropology) के अन्तर्गत आता है। मानव के शारीरिक तथा सामाजिक विकास आदि प्रश्नों के उत्तर के लिए प्रागितिहास नृतत्व-शास्त्र का आभारी है।

प्रागितिहास विभिन्न प्राकृतिक विज्ञानों तथा सामाजिक शास्त्रों से आवश्यकतानुसार उन तथ्यों का संकलन करता है, जिनसे किसी भी प्रकार से आदि मानव के आविर्भाव तथा विकास पर प्रकाश पड़ता हो। किन्तु उसका अध्ययन यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है। इन सभी विज्ञानों के सहयोग से प्रागितिहासकार मानव के उन उपकरणों का भी अध्ययन करता है, जिनका उसने प्रयोग किया था और जो अब भी उपलब्ध हैं। मानव के ये अशारीरिक अवशेष (Extracorporeal Remains) प्रागितिहास के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि अधिकतर उपकरण-मात्र ही मानव की उपस्थिति के परिचायक होते हैं। संसार के केवल कुछ ही स्थानों से मानवाश्म (Human Fossil) प्राप्त हुए हैं। अन्य स्थानों में उसके उपकरणों (Artifacts) से ही मानव की उपस्थिति का अनुमान किया जाता है। इसी के माध्यम से हम मानव के क्रमिक विकास तथा उसके आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का भी अध्ययन करते हैं।

प्रागितिहास अपनी पद्धति के लिए पुरातत्व (Archaeology) पर आश्रित है। पुरातत्व प्राचीन वस्तुओं का संकलन कर उनके अध्ययन से ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण करता है। इस दृष्टिकोण से यदि प्रागितिहास को पुरातत्व का ही अंग कहें, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रागितिहास की गति पुरातत्व के बिना सम्भव नहीं है। प्रागितिहास जिन उपकरणों का अध्ययन करता है उनकी प्राप्ति तथा अध्ययन की विधि पुरातत्व पर ही आश्रित है। दूसरे शब्दों में वह पुरातात्विक सामग्री का अध्ययन करता है। दोनों में अन्तर मात्र विस्तार का है। प्रागितिहास केवल मानव-जीवन के एक काल-विशेष का अध्ययन करता है, जबकि पुरातत्व मनुष्य के सम्पूर्ण अतीत से सम्बन्धित है।

प्रागितिहास निरक्षर अथवा ऐसे समाजों का इतिहास है, जिनके सम्बन्ध में कोई भी लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसे लोगों का इतिहास उन लोगों के इतिहास से सर्वथा भिन्न है, जिन्होंने अपने लिखित प्रमाण छोड़े हैं। क्योंकि प्रागितिहासकार जिन लोगों का, जिन समाजों के इतिहास का अध्ययन करता है 'उनके नाम, वंश, उनके वैयक्तिक जीवन'[1] आदि के विस्तार के विषय में भी अनभिज्ञ रहता है। वह प्रायः उनकी जाति, स्वरूप एवं आकारादि के विषय में भी नहीं जानता है। प्रागितिहास वास्तव में मानव समाज के विकास का इतिहास है। उपकरणों, कब्रों, शिलाचित्रों तथा अन्य इसी प्रकार के अवशेषों के अध्ययन से मानव के वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ता है। इसके साथ ही साथ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों पर भी ये प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार प्रागितिहास देश, जाति, वंश तथा व्यक्ति-विशेष की संकुचित परिधि को छोड़कर मानव मात्र के विकास से सम्बन्धित है। सारांश में वह उन प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है, जो मानव समाज और संस्कृति के विकास के लिए उत्तरदायी थे।

---

१. चाइल्ड, वी० जी०—मैन मेक्स हिमसैल्फ, ए मेण्टरबुक, मार्च १९५७, पृ० १२।

आदि मानव का वातावरण

कालक्रम का बोध इतिहास की ही नहीं, अपितु भूतत्व की भी आधारशिला है। किन्तु दोनों अनुशासनों में काल की संकल्पना (Concept) तथा इकाई (Unit) में वृहत्तर है। ऐतिहासिक युग का विस्तार अपेक्षाकृत नगण्य है। मानव-जीवन में भी ऐतिहासिक युग का सम्पूर्ण काल दशमलव पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं है। शेष प्रागितिहास के अन्तर्गत है, जिसके काल का निरूपण भौतात्विक-कल्पों के आधार से ही किया जाता है। पृथ्वी के विकास के इतिहास में मानव की क्या स्थिति है, इसके अध्ययन के लिए पृथ्वी के विकास के इतिहास—विशेषतः भौतात्विक-कल्पों—का ज्ञान आवश्यक है।

सुविधा की दृष्टि से पृथ्वी के विकास का इतिहास चार प्रमुख कल्पों में विभाजित किया जाता है। कल्पों का विभाजन नवीन प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के आधार पर किया गया है। अनुमानतः पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति सर्वप्रथम प्राक् त्रिखण्ड काल अथवा प्राक् प्राथमिक काल (Precambrian or Archaean) में लगभग २,००० सहस्र वर्षों पूर्व हुआ था। जीवन का आविर्भाव सर्वप्रथम सरलतम स्वरूप में होता है। इन्हें प्राय लार्वा, एककोषीय अथवा कीटडिम्ब कहा गया है।

दूसरा भौतात्विक-कल्प अर्थात् पुरा कल्प (Palaeozoic) या प्राथमिक (Primary) लगभग ३०० से ३२० सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। इस कल्प के अनेक विभाजन हैं। इसका प्रथम विभाजन त्रिखण्ड काल (Cambrian) तथा अन्तिम गिरि काल (Permian) माना जाता है। सर्वप्रथम मेरुदण्ड-विहीन जीवों (Invertebrate Life) की उत्पत्ति इसी काल में होती है।

तीसरा भौतात्विक-कल्प अर्थात् मध्य कल्प (Mesozoic) अथवा द्वितीयक (Secondary) १३० से १४० सहस्र वर्ष पूर्व हुआ। इस कल्प के मुख्यतः तीन विभाजन रक्ताश्म काल (Triassic), महासरट काल (Jurassic), तथा खटी काल (Crataceous) है। इस कल्प में सर्वप्रथम मेरुदण्डयुक्त जीवों (Vertebrate life) की उत्पत्ति होती है।

चौथा भौतात्विक-कल्प नूतन कल्प (Cenezoic) है। इसका प्रारम्भ ६० से ७० सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। इस कल्प को प्रायः दो प्रमुख युगों—तृतीयक (Tertiary) तथा चतुर्थक (Quaternary) में विभाजित करते हैं। इन दोनों युगों के अन्य उपविभाग भी हैं। तृतीयक को पाँच भागों में विभाजित करते

भौतात्त्विक् कल्प एवं जीवन-विकास

<table>
<tr><td rowspan="7">नूतन कल्प
(Cenezoic)</td><td rowspan="7">६०—७० सहस्र वर्ष</td><td rowspan="7">४</td><td rowspan="2">चतुर्थक
(Quaternary)</td><td>नूतन काल
(Recent / Holocene)</td><td rowspan="2">मानव-युग
(Age of Man)</td></tr>
<tr><td>प्रातिनूतन काल (Pleistocene)</td></tr>
<tr><td rowspan="5">तृतीयक
(Tertiary)</td><td>अतिनूतन काल (Pliocene)</td><td rowspan="5">स्तन्य पशु-युग
(Age of Mammal)</td></tr>
<tr><td>मध्यनूतन काल (Miocene)</td></tr>
<tr><td>आदिनूतन काल (Oligocene)</td></tr>
<tr><td>आद्यनूतन काल (Eocene)</td></tr>
<tr><td>पुरानूतन काल (Palaeocene)</td></tr>
<tr><td rowspan="3">मध्य कल्प
(Mesozoic)</td><td rowspan="3">१३०—१४० सहस्र वर्ष</td><td rowspan="3">३</td><td rowspan="3">द्वितीयक
(Secondary)</td><td>खटी काल (Crataceous)</td><td rowspan="3">सरीसृप-युग
(Age of Reptiles)</td></tr>
<tr><td>महासरट काल (Jurassic)</td></tr>
<tr><td>रक्ताश्म काल (Triassic)</td></tr>
<tr><td rowspan="8">पुरा कल्प
(Palaeozoic)</td><td rowspan="8">३००—३२० सहस्र वर्ष</td><td rowspan="8">२</td><td rowspan="8">प्राथमिक
(Primary)</td><td>गिरिकाल (Permian)</td><td rowspan="8">अमेरुदण्डी पशु-युग
(Age of Invertebrate Life)</td></tr>
<tr><td>उच्च अंगार काल
(Upper Carboniferous)</td></tr>
<tr><td>निम्न अंगार काल
(Lower Carboniferous)</td></tr>
<tr><td>मत्स्य काल (Devonian)</td></tr>
<tr><td>प्रवालादि काल (Silurian)</td></tr>
<tr><td>अवर प्रवालादि काल
(Ordovician)</td></tr>
<tr><td>त्रिखण्ड काल (Cambrian)</td></tr>
<tr></tr>
<tr><td rowspan="2">प्राक् त्रिखण्ड कल्प
(Precambrian)</td><td rowspan="2">कम से कम २,००० सहस्र वर्ष</td><td rowspan="2">१</td><td rowspan="2">प्राक् प्राथमिक
(Archaean)</td><td>प्रादि कल्प (Proterozoic)</td><td rowspan="2">लार्वा (कीटडिम्ब)
(Larva)</td></tr>
<tr><td>आदि कल्प (Archaezoic)</td></tr>
</table>

तालिका—१

हैं—पुरानूतन काल (Palaeocene), आद्यनूतन काल (Eocene), आदिनूतन काल (Oligocene) मध्य-नूतन काल (Miocene) तथा अतिनूतन काल (Pliocene)। चतुर्थक (Quaternery) को भी प्रमुखतः दो भागों—प्रातिनूतन (Pleistocene) और नूतन (Recent or Holocene) में विभाजित करते हैं। इस युग में सर्वप्रथम स्तनपायी जन्तुओं (Mammals) का आविर्भाव होता है।

पृथ्वी की आधुनिक रूपरेखा एवं स्वरूप का निर्माण इसी काल में हुआ। आल्प (Alps) तथा हिमालय पर्वत श्रेणियाँ समुद्र के धरातल से ऊपर उठीं तथा इसके पूर्व के युगों की पर्वत-श्रेणियों को उनका आधुनिक आकार मिला। नदियों का आधुनिक स्वरूप भी इसी युग में निर्धारित हुआ है। पृथ्वी के अनेक भागों में आज भी पूर्ण निर्माण नहीं हुआ है। भूडोल तथा ज्वालामुखी इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

प्रागितिहास के दृष्टिकोण से भौतात्विक-कल्पों में अन्तिम अर्थात् नूतन कल्प (Cenezoic) और इसके दोनों विभाजन तृतीयक तथा चतुर्थक सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। विद्वानों में तृतीयक तथा चतुर्थक विभागों की विभाज्य रेखा के सम्बन्ध में बहुत मतभेद था। ऐसे प्रायः सभी विद्वान् अतिनूतन काल (Pliocene) को तृतीयक का अन्तिम और प्रातिनूतन (Pleistocene) को चतुर्थक का प्रथम विभाजन मानते थे। क्रियात्मक दृष्टिकोण से कठिनाई केवल अतिनूतन काल तथा प्रातिनूतनकालीन स्तरों को पृथक् करने में थी। इस कठिनाई को दूर करने के दृष्टिकोण से सन् १९३४ में लीके महोदय ने सन् १९१२ में हेग (Haug) की प्रदत्त परिभाषा को स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा था। उसके अनुसार एलीफस, ईक्वस या बास (Elephas, Equus or Bos) परिवार का जीवाश्म जिस स्तर से मिले उसे प्रातिनूतन काल का मानना चाहिए। अन्त में सन् १९४० में लन्दन में हुए इण्टरनेशनल जियोलाजिकल काँग्रेस (International Geological Congress) ने भी निश्चित किया कि निम्न प्रातिनूतन काल (Lower Pleistocene) के अन्तर्गत कलेब्रियन फारमेशन (Calabrian formation Marine) तथा साथ ही साथ टैरेस्ट्रियल (Terrestrial Continental) के बराबर विलाफ्रेंशिया (Villafranchian) को रखा जा सकता है। भूतत्ववेत्ताओं ने वास्तव में वही प्रस्ताव मान लिया, जिसे सन् १९१२ में हेग (Haug) तथा सन् १९३४ में लीके ने रखा था।[1] सन् १९५० में भी लीके महोदय ने ज्यूरिक में हुए इण्टरनेशनल काँग्रेस आव प्रीहिस्टारिक एण्ड प्रोटोहिस्टारिक साइंसेज में भूतत्ववेत्ताओं की परिभाषा को स्वीकार करने की माँग की। यद्यपि लीके महोदय उस समय अपने प्रयास में सफल नहीं हुए, किन्तु अब प्रायः सभी प्रागितिहासकार भूतत्ववेत्ताओं की उस परिभाषा के अनुसार ही अतिनूतन तथा प्रातिनूतन कालों का विभाजन करते हैं। इस प्रकार 'विलाफ्रेंशिया फौना' (Villafranchian Fauna) ही अब अतिनूतन (Pliocene) तथा प्रातिनूतन (Pleistocene) की विभाज्य रेखा मानी जाती है।

चतुर्थक के दोनों विभाजनों प्रातिनूतन (Pleistocene) तथा नूतन (Holocene) युगों की विभाज्य रेखा के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। प्रायः विद्वान् नूतन (Holocene) को अन्तिम हिमावर्तन या वृष्ट्यावर्तन (Last glacial or Pluvial) के बाद का युग मानते हैं। अर्थात् नूतन काल का आविर्भाव समशीतोष्ण कटिबन्धों (Temperate Zone) में अन्तिम हिमाच्छादन (Last Glaciation) के बाद और उष्ण कटिबन्धों (Tropical Zone) में अंतिम वृष्ट्यावर्तन (Last Pluvial) के बाद होता है। किन्तु यह परिभाषा इस दृष्टिकोण से उचित नहीं लगती कि जब सभी कल्पों अथवा विभागों का विभाजन जीवाश्मों

१. लीके, एल० एस० बी०—एडम्स एनसेस्टर, मेथुअन एण्ड कम्पनी, १९५३, पृ० १६ आदि।

के आधार पर ही किया गया है, तो इसका ही क्यों जलवायु के आधार पर किया जाए। अतः यह विभाजन भी इसी आधार पर करना चाहिए ! कुछ विद्वानों ने इसको ध्यान में रखकर पशु-पालन प्रथा के प्रारम्भ से नूतन काल का प्रारम्भ माना है।

मानव की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से भौतात्विक-कल्पों में अन्तिम कल्प प्रातिनूतन काल विशेष महत्त्वपूर्ण है। संसार के विभिन्न भागों में आदि मानव के अवशेष प्रायः सर्वप्रथम इसी युग के स्तरों में मिलते हैं। इस युग को मानव-युग भी कहा गया है। किन्तु जहाँ तक मानव के विकास का प्रश्न है उसकी उत्पत्ति निश्चित रूप से प्रातिनूतन काल के पूर्व हो चुकी होगी, क्योंकि उसके शारीरिक तथा अशारीरिक अवशेष प्रातिनूतन काल के स्तरों में मिलते हैं। मानवेतर स्थिति (Sub-human Stage) से विकसित होकर मानवसम (Homonid) तथा मानव होने में उसे सहस्रों वर्ष लगे होंगे, अतः यह अनुमान करना अनुपयुक्त न होगा कि प्रातिनूतन काल से पूर्व ही उसका आविर्भाव हो गया होगा। इस सम्बन्ध में अफ्रीका के ओल्डुआई गार्ज (Olduai Gorge) का साक्ष्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ के निम्नतर स्तर से जिसमें मानव के अवशेष प्राप्त हुए हैं उसे तृतीयक काल (Tertiary Period) में रखा जाता है। अतः इस साक्ष्य के आधार पर निश्चित रूप से मानव की प्राचीनता को प्रातिनूतन काल के पूर्व रखा जा सकता है। चूँकि मानव का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ, अतः यह कह सकना कि किस समय उसने मानवेतर स्थिति से मानव स्थिति में प्रवेश किया, सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि मानव से हमारा क्या तात्पर्य है?, मानव कौन है? और किस समय से इस विशिष्ट प्राणी को मानव की संज्ञा से अभिभूत कर सकते हैं?

इस सम्बन्ध में डायोनीज का एक उपाख्यान विशेष उल्लेखनीय है। एक बार प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो से मानव की परिभाषा पूछी गयी। उन्होंने कहा, "पंख से हीन वह पैरों पर खड़ा जानवर है।" इस पर डायोनीज ने एक मुर्गे को पकड़कर उसके पंखों को तोड़ कर कहा, "यह प्लेटो का मानव है।" अतएव प्लेटो ने अपनी परिभाषा में सुधार करते हुए कहा, "मानव दो पैरों का जानवर है, जिसके पंख नहीं हैं और नाखून चपटे हैं।"

मनुष्य की परिभाषा के सम्बन्ध में कितने प्रकार के मत हो सकते हैं, इसका अनुमान इस उपाख्यान से किया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने मनुष्य की परिभाषा उसके बोलने तथा हँसने की शक्ति के आधार पर किया है। अन्य ने उसकी शारीरिक विशेषताओं पर महत्त्व दिया है। किन्तु प्राणिशास्त्रवेत्ता (Zoologists) पशु तथा मानव में भेद उनके कपाल (Skull) तथा कपालीय समावेश (Cranial Capacity) के आधार पर करते हैं।

१. दीर्घकपालिक (Dolicocephalic) इसका कपालीय समावेश ७७·७७ से कम होता है।

२. लघुकपालिक (Brachycephalic or Round Headed) इसका कपालीय समावेश ८०° से अधिक होता है।

३. मध्यकपालिक (Mesaticephalic or Average Skull) इसका कपालीय समावेश ७७·७७ तथा ८०· के बीच होता है।

पुरुषाभ (Anthropoids) तथा मानव के प्राचीनतम पूर्वज प्रायः दीर्घकपालिक प्रकार के थे। अधिक कपालीय समावेश वालों को मानव की संज्ञा प्रदान की जाती है। मानव की उपर्युक्त

परिभाषाएं तथा इस प्रकार की अन्य परिभाषाएँ प्रागितिहास के लिये उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि प्रागितिहास में हम जिन लोगों के इतिहास के सम्बन्ध में पढ़ते हैं, जिनके उपकरणों का परीक्षण एवं अध्ययन करते हैं, प्रायः उनकी शारीरिक बनावट आदि से पूर्णतया अवगत नहीं होते हैं। इस सन्दर्भ में भारत का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अभी तक यहाँ पर पूर्व पाषाणकालीन मानव का कोई भी जीवाश्म उपलब्ध नहीं हुआ है। हम प्रागैतिहासिक मानव का अनुमान उसके शारीरिक अवशेषों से न लगाकर उसके अशारीरिक अवशेषों अथवा उपकरणों से ही लगाते हैं। यह बात केवल भारत के ही सन्दर्भ में नहीं, अपितु विश्व के सन्दर्भ में भी सत्य मानी जा सकती है। इस दृष्टिकोण से लीके[1] महोदय का मत सबसे उपयुक्त प्रतीत होता है। उन्होंने मनुष्य को उपकरण बनाने वाला प्राणी कहा है। ओकले ने भी मनुष्य को इसी विशेषण से अभिभूत किया है।[2] प्रायः प्रागितिहास में मानव की यही परिभाषा सबसे अधिक मान्य है। आलोचनात्मक रूप से समीक्षा करने पर यही मत सबसे अधिक उचित भी प्रतीत होता है। वास्तव में मानव को मानव बनाने में उसके ये अशारीरिक उपकरण (Extra Corporeal Equipment) ही सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। मानव शारीरिक रूप से सभी पशुओं से निर्बल है। प्रकृति ने उसको उन सब प्रसाधनों से हीन बनाया है, जिनसे पशु अपनी रक्षा करते हैं। ठण्डे प्रदेश में होने वाले पशुओं के समान उसके शरीर पर बालों का आच्छादन नहीं होता, हिंसक पशुओं के समान उसके दाँत तीक्ष्ण तथा बड़े नहीं होते और न ही उसके नाखूनो की बनावट इस प्रकार की होती है, जिससे वह अपनी रक्षा कर सके। उसके पैरों और शरीर की बनावट इस प्रकार की नहीं होती कि वह तेज गति से भाग सके अथवा नदी-नालों को लाँघ सके। प्रकृति के अनेक पशुओं से शारीरिक शक्ति में हीन होने पर भी मानव सभी पर अपना अधिकार करने में सफल हो सका। मानव की शारीरिक असमर्थता को उसकी बौद्धिक विशेषता तथा चिन्तन शक्ति ने पूरा ही नहीं किया, अपितु उसे पशुओं के ऊपर अधिकार स्थापित करने में भी सहायता दी। शारीरिक शक्ति में हीन होने के कारण उसे ऐसी वस्तुओं के निर्माण करने की आवश्यकता हुई, जिसके द्वारा वह अपनी रक्षा कर सके। उसने आत्मरक्षा के लिए उपकरणों का निर्माण किया। मानव के उपकरण उसकी बौद्धिक उपलब्धियों के प्राचीनतम प्रमाण हैं। इस प्रकार उसके ये अशारीरिक उपकरण उसे सर्वप्रथम पशुओं से पृथक् करते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि मानव को उपकरण बनाने वाला प्राणी कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा।

मानव की उत्पत्ति चतुर्थक (Quaternary) के पूर्व ही निश्चित रूप से हो चुकी थी, किन्तु उसका वास्तविक विकास चतुर्थक के प्रातिनूतन (Pleistocene) काल में ही हुआ। प्रातिनूतन काल को प्रायः मानव के विकास का युग भी कहते हैं।

प्रातिनूतन काल पृथ्वी के विकास के इतिहास में मानव के उद्भव एवं विकास के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु जलवायु के दृष्टिकोण से भी विशेष उल्लेखनीय है। जलवायु के दृष्टिकोण से यह एक अभूतपूर्व अस्थिरता का युग था। पृथ्वी के जीवनकाल में संसार की जलवायु सभी स्थानों में, अधिकांशतया, अपेक्षाकृत ऊष्ण थी, यद्यपि इस विस्तृत ऊष्ण काल के बीच में कई हिमयुग भी हुए। इस प्रकार के हिमयुगों में प्रथम हिमयुग इन्फ्राकैम्ब्रियन (Infra Cambrian) प्रादि कल्प तथा पुरा कल्प

---

१. लीके, एल० एस० बी०—पाश्र्वोद्धरित, १९५३, पृ० १६।

२. ओकले, के० पी०—'मैन दी टूल मेकर'।

(Proterozoic and Palaeozoic Ages) के संधि (Transition) के समय हुआ था। दूसरा हिमयुग पर्मो-कार्बनीफेरस (Permo-Carboniferous) प्रथम हिमयुग से अधिक स्पष्ट है तथा यह पुरा कल्प (Palaeozoic) के अंगार काल (Carboniferous) में हुआ था। पर्मो-कार्बनीफेरस हिमयुग के बाद की जलवायु में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। केवल मध्यकल्प (Mesozoic) तथा प्रारम्भिक तृतीयक (Tertiary) युग में कुछ अस्थायी परिवर्तन अवश्य हुए। पृथ्वी के धरातल के तापमान का क्रमिक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तृतीयक काल के पुरानूतन काल (Palaeocene) से ही धरातल का तापमान कम होने लगता है और अतिनूतन काल (Pliocene) में बहुत कम हो जाता है। उसके बाद प्रातिनूतन काल से हिमायन प्रारम्भ हो जाता है। प्रातिनूतन काल को महान् हिमयुग भी कहा गया है। किन्तु यह नाम बहुत उचित नहीं है, क्योंकि पूरे प्रातिनूतन काल में हिमायन नहीं था।

प्रातिनूतन काल का प्रारम्भ जलवायु के दृष्टिकोण से अतिनूतन काल के बाद प्रथम हिमायन से माना जाता है। हिमायनों (Glaciations) के सम्बन्ध में १९वीं शताब्दी के पूर्व प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं था। १९वीं शताब्दी से इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने कार्य किया। जहाँ तक ज्ञात है सर्वप्रथम एक स्विस अभियन्ता जे० वेनेज (J. Venetz) का ध्यान इस तरफ आकर्षित हुआ था। किन्तु हिमायन के सिद्धान्त को वास्तविक रूप से संसार के सामने प्रस्तुत करने में सबसे अधिक योगदान शार्पेण्टियर तथा अगासिज (Charpentier and Agassiz) का है। शार्पेण्टियर की प्रेरणा से अगासिज ने बताया कि निकट भूत काल में पृथ्वी का धरातल हिम नदियों से आक्रान्त था। उनका कार्य स्विटजरलैण्ड के आल्प्स पर्वतों के निकटवर्ती क्षेत्रों के हिमायनों पर आधारित था। यूरोप में हिमायनों का अध्ययन ओ० टोरेल ने सन् १८५७ के लगभग किया था। उन्हें हिम प्रत्यावर्तन का ज्ञान नहीं था। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् मार्लो के कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हें शीत जलवायु के दो स्तरों के बीच में समशीतोष्ण जलवायु में उगने वाले पौधों के जीवाश्मित अवशेष मिले थे। इसके आधार पर सन् १८५४ के लगभग मार्लो ने घोषित किया कि निश्चत रूप से एक से अधिक हिमयुग हुए होंगे। उनके अनुसार तीन हिमावर्तन (Glaciation) और उनके बीच होने वाले दो हिम प्रत्यावर्तन (Inter-glaciation) हुए थे। किन्तु जेम्स गीकी (James-Geikie) ने प्रातिनूतन काल में छह हिमावर्तनों और उनके बीच पाँच हिम प्रत्यावर्तनों के सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् १८७४ के लगभग किया। ए० पेंक तथा ई० ब्रकनर (A. Penck and Bruckner) के सन् १९०९ में किए गए कार्य प्रातिनूतनकालीन भूतत्व के दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें प्रातिनूतन काल में आल्पीय प्रदेश में चार हिमावर्तनों तथा तीन हिम प्रत्यावर्तनों के होने के स्तरीय (Stratigraphical) प्रमाण मिले। प्रत्येक हिमावर्तन का नामकरण उन्होंने आल्प्स पर्वत के उत्तर में डेन्यूब नदी की घाटी की ओर बहने वाली चार नदियों के नाम पर किया, जो क्रमशः गुंज (Gunz), मिण्डेल (Mindel), रिस (Riss) और वुर्म (Wurm) हैं। इन हिमावर्तनों के मध्य में हुए हिम प्रत्यावर्तनों को क्रमशः गुंज-मिण्डेल (Gunz-Mindel), मिण्डेल-रिस (Mindel-Riss) और रिस-वुर्म (Riss-wurm) की संज्ञा प्रदान की गयी है। अधिकांश विद्वान् अब प्रायः पेंक तथा ब्रकनर के ही सिद्धान्त को मानते हैं। उनका यह सिद्धान्त केवल यूरोप के संदर्भ में नहीं, अपितु विश्व में प्रायः जहाँ कहीं हिमायन हुए हैं उन सभी स्थानों के लिए सत्य माना जाता है। प्रातिनूतन काल के हिमायनों पर अमेरिका में हुए कार्य भी उल्लेखनीय हैं। वहाँ भी यूरोप के समान चार हिमावर्तन तथा तीन हिम प्रत्यावर्तन हुए, जिनका नामकरण अमेरिका की स्टेट्स के नाम पर किया गया है, वे इस प्रकार हैं : नेबारासकन (Nebaraskan), कानसन (Kansan), इलीनोयन (Illinoian) तथा विसकानसिन

(Wisconsin)। इनके बीच तीन हिम प्रत्यावर्तन हुए, जिन्हें एफ्टोनियन (Aftonian), यारमूथ (Yarmouth) एवं संगेमन (Sangamon) कहते हैं। भारत में हिमायन का अध्ययन डी० टेरा तथा टी० टी० पेटरसन (De Terra & T. T. Paterson) आदि विद्वानों ने किया है। उन्हें यहाँ पर भी चार हिमावर्तनों तथा तीन हिम प्रत्यावर्तनों के प्रमाण मिले हैं, जिन्हें प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ हिमावर्तन कहते हैं। इसी प्रकार हिम प्रत्यावर्तनों को भी प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय की संज्ञा प्रदान की जाती है। हिमावर्तन तथा हिम प्रत्यावर्तन का यह सिद्धान्त अब प्रायः सार्वभौम रूप से सत्य माना जाता है।

उत्तरी गोलार्द्ध (Northern Hemisphere) में कनाडा (Canada) से लेकर दक्षिण में यूनाइटेड स्टेट्स (United States) स्कैण्डिनेविया (Scandinevia) उत्तरी जर्मनी (N. Germany) पश्चिमी रूस (W.Russia) तथा साइबेरिया (Siberia) के प्रदेश हिमायित थे। ग्रीनलैण्ड (Green Land) में उस समय भी उसी प्रकार हिमायन था जैसे अब है। स्कैण्डिनेविया का हिमायन दक्षिण में उत्तरी समुद्र के ऊपर से होता हुआ ब्रिटिश द्वीप समूह में इग्लेंड के दक्षिणी किनारे को छोड़कर सभी हिमायित था। सम्पूर्ण दक्षिण ध्रुवीय (Antarctic) प्रायद्वीप निश्चित रूप से हिमायित था। दक्षिणी अमेरिका के न्यूज़ीलैण्ड (Newzealand) के दक्षिणी द्वीप पैटागोनिया (Patagonia) के हाईलैण्ड सभी हिमायित थे। इसके अतिरिक्त संसार की सभी ऊँची पर्वत शृंखलायें हिमाच्छादित थीं तथा घाटियों से हिमनदी (Glaciers) बहुत नीचे तक आ गयी थी। इसीलिए संसार में अनेक स्थानों में जहाँ आज १०० डिग्री फैरेनहाइट (100 F.) का तापमान भी मिलता है, यदि वे ऊँचे पर्वत की घाटी के निकट थे, तो वहाँ भी हिमायन के प्रमाण मिलते हैं। यूरोप, अमेरिका एवं संसार के विभिन्न प्रदेशों में हिमायनों के क्रमिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सभी स्थानों में हिमावर्तन तथा हिम प्रत्यावर्तनों का क्रम वास्तव में एक ही प्रकार का था और सभी समसामयिक भी थे।

चारों हिमावर्तनों तथा तीनों हिम प्रत्यावर्तनों की अवधियाँ एक नहीं थी तथा उनकी जलवायु में भी यथेष्ठ अन्तर था। प्रायः एक ही हिमावर्तन काल अथवा हिम प्रत्यावर्तन काल में अनेक अस्थायी जलवायु परिवर्तन हुए थे। चूंकि इस प्रकार के जलवायु परिवर्तन बहुत ही सीमित अवधि के थे, अतः इनका अलग विभाजन नहीं किया गया है। इस प्रकार के अस्थायी हिमावर्तनों तथा हिम प्रत्यावर्तनों को ज्वाएनर (Zeuner) ने इण्टरस्टेडियल (Interstadial) की संज्ञा प्रदान की है।

जिस समय संसार के विभिन्न क्षेत्रों में हिमावर्तन (Glaciation) अथवा हिम प्रत्यावर्तन हो रहे थे, उस समय अन्य क्षेत्रों में वृष्ट्यावर्तन (Pluvial) तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन (Inter-pluvial) हो रहे थे। इस प्रकार की जलवायु ऊष्ण कटिबन्धों में थी। अफ्रीका में चार वृष्ट्यावर्तनों—कगेरन (Kageran), कमासियन (Kamasian), कञ्जेरन (Kanjeran) तथा गैम्बलियन (Gamblian) कालों तथा उनके मध्यवर्ती वृष्टि-प्रत्यावर्तन कालों के प्रमाण मिलते हैं। दक्षिणी भारत में भी इसी प्रकार वृष्ट्यावर्तन तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन कालों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। वृष्टि आवर्तन काल में विपुल वर्षा के प्रमाण मिलते हैं तथा वृहत् नदियों और विस्तृत झीलों का निर्माण होता है। वृष्टि-प्रत्यावर्तन काल अपेक्षाकृत शुष्क काल था, जबकि धरातल के तापमान में वृद्धि और आर्द्रता (Humidity) में न्यूनता हो जाती थी। फलतः वृहत् नदियाँ कृषकाय तथा विस्तृत झीलें संकुचित होने लगती थीं। साधारण नदी-नाले सूखने लगते थे। विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं कि हिमावर्तन तथा हिम प्रत्यावर्तन और वृष्ट्यावर्तन का तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन का पारस्परिक क्या सम्बन्ध था। इस विषय में प्रमुख प्रश्न है कि क्या ये

दोनों संसार के विभिन्न प्रदेशों में एक ही समय हुए ? प्रोफेसर ज्वाएनर का विचार है कि इनकी समकालीनता का मत निराधार है । शीत एवं समशीतोष्ण कटिबंधी और ऊष्ण कटिबंधी मण्डलों में सौर्य विकिरण (Solar Radiation) की तुलना पर उन्हें हिमावर्तन तथा वृष्ट्यावर्तन की अनुरूपता केवल आकस्मिक ही प्रतीत होती है ।

ज्वाएनर के मत के विरुद्ध प्रसिद्ध प्रागितिहासकार लीके हिमावर्तन तथा हिम प्रत्यावर्तन और वृष्ट्यावर्तन तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन को समसामयिक मानते हैं । उनके अनुसार 'पृथ्वी के धरातल के औसत तापक्रम में न्यूनता के साथ जल अथवा बर्फ के रूप में आर्द्रता (Humidity) में वृद्धि के कारण उपयुक्त भौगोलिक कटिबंधों मे विस्तृत बर्फ की चादरों तथा बर्फीले मैदानों का निर्माण होगा तथा संसार के अन्य भागों में उसी जलवायु के परिवर्तनस्वरूप नदियों तथा झीलों का निर्माण उन प्रदेशों में होगा जहाँ पहिले वे नहीं थीं । किन्तु उन स्थानों में बर्फीले मैदानों तथा बर्फ की चादरों का निर्माण पहाड़ों के अतिरिक्त कहीं नहीं होगा ।'[1]

इसी प्रकार जब पृथ्वी के धरातल के औसत तापमान में अधिकता तथा आर्द्रता में न्यूनता आ जाती है तब उसका फल संसार के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न होगा । जहाँ पर बर्फ की चादरें और बर्फीले मैदान थे वहाँ पर तापमान के आधिक्य के कारण बर्फ पिघलने लगेगी । फलतः नदियाँ और नाले पिघले बर्फ के पानी से भरने लगेंगे । जिन प्रदेशों में बर्फ की चादरें नहीं थीं वहाँ पर धीरे-धीरे नदियाँ और झीलें सूखने लगेंगी और जलवायु में शुष्कता बढ़ने लगेगी ।[2] स्थानीय विशेषताओं ने भी स्थान-स्थान पर जलवायु को प्रभावित किया होगा । सारांश में लीके महोदय के अनुसार यदि हिमावर्तन एवं हिम प्रत्यावर्तन और वृष्ट्यावर्तन तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन एक ही कारण के फलस्वरूप हुए, तो विभिन्न क्षेत्रों में उनका समसामयिक होना माना जा सकता है ।

लीके के अनुसार प्रातिनूतन काल में सामान्यतः जलवायु सम्बन्धी सात परिवर्तन हुए । इनका प्रारम्भ प्रातिनूतन काल में आर्द्रता की वृद्धि और पृथ्वी के धरातल के औसत तापमान में न्यूनता के फलस्वरूप आधुनिक समशीतोष्ण कटिबंधों में जैसे, उत्तरी तथा मध्य यूरोप में हिमायन से और उष्ण कटिबंधों में जैसे, अफ्रीका में वृष्ट्यावर्तन से होता है । लीके के अनुसार कगेरन तथा गुंज, कमासियन तथा मिण्डेल, कन्जेरन तथी रिस और गैम्बलियन तथा वुर्म अफ्रीका एवं यूरोप में साथ हुए । दो वृष्ट्यावर्तनों के मध्य का युग वृष्टि-प्रत्यावर्तन का युग था । अफ्रीका में इस प्रकार के तीन वृष्टि-प्रत्यावर्तन हुए, जो योरप के हिम प्रत्यावर्तनों के समकालीन थे ।

---

१. लीके, एल० एस० बी०—पार्श्वोद्धरित, पृ० २० ।

"A general lowering of the mean temperature on the earths surface, together with an increase in precipitation of moisture in the form of rain or snow, will result in the formation of great ice-sheets and snow-fields in suitable geographical zones, while in other parts of the world the effect of the same climatic change will result in rivers and lakes being greatly enlarged and new rivers and lakes forming where previously there were none; Yet no snow-fields or ice-sheets will form except, perhaps, in the mountains."

२. लीके, एल० एस० बी०—पार्श्वोद्धरित, पृ० २० ।

बर्किट तथा कामियाडे[1] के दक्षिण भारत में किये गये कार्य भी इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि वहाँ पर भी उनके अनुसार प्रातिनूतन काल में जलवायु सम्बन्धी सात परिवर्तन हुए। इसका प्रारम्भ आर्द्र काल से होता है। कुल मिलाकर चार आर्द्र काल अथवा वृष्ट्यावर्तन और उनके बीच में तीन शुष्क अथवा वृष्टि-प्रत्यावर्तन हुए। यहाँ पर भी साधारणतः उत्तर के हिमावर्तनों को दक्षिण के वृष्ट्यावर्तनों के समकालीन माना जा सकता है।

प्रातिनूतन काल के हिमावर्तनों ने पृथ्वी के सभी स्थलों पर जहाँ हिमायन हुआ था अथवा नहीं विशेषतः प्रभावित किया था। पृथ्वी के आधुनिक स्वरूप के निर्माण में उनका बहुत योगदान है। जिन स्थानों में हिमायन था और जहाँ से हिमनदियाँ गुजरी हैं वहाँ पर उन्होंने अपने विशिष्ट कार्यों से स्थान की रूपरेखा को एकदम परिवर्तित कर दिया है जैसे, जिन स्थानों पर मिट्टी नहीं थी वहाँ पर अन्य स्थान से मिट्टी लाकर छोड़ दिया, सूखे स्थानों को दलदलों में परिवर्तित कर दिया, अन्य स्थानों में जहाँ पत्थर नहीं थे वहाँ छोटे-बड़े पत्थर के टुकड़ों को बिखेर दिया। हिमनदियाँ बहुत शक्तिशाली होती हैं। अपने अंचल में, विशालकाय पत्थरों को जो उनके मार्ग में मिलते हैं अथवा बगल की पहाड़ियों से ठण्ढक के कारण चटकने से टूट कर गिरते हैं, सभी को वहाती ले जाती हैं। उनका भार इतना अधिक होता है कि अपने दबाव से वह पत्थरों को पीस डालती है तथा आधारशिला (Bed-rock) को खरोंच देती है। बरफ की रगड़ से उसमें चमक भी आ जाती है। बहुत अधिक रगड़ और खरोंच से आधारशिला में गहरे खाँचे बन जाते हैं। इतना ही नहीं हिमनदियाँ पहाड़ी तथा घाटी की रूपरेखा में भी आमूल परिवर्तन कर देती हैं।

पर्वत के ढालू पर जहाँ हिम एकत्रित होकर नदी का स्वरूप धारण करता है वहाँ हिम के निरन्तर
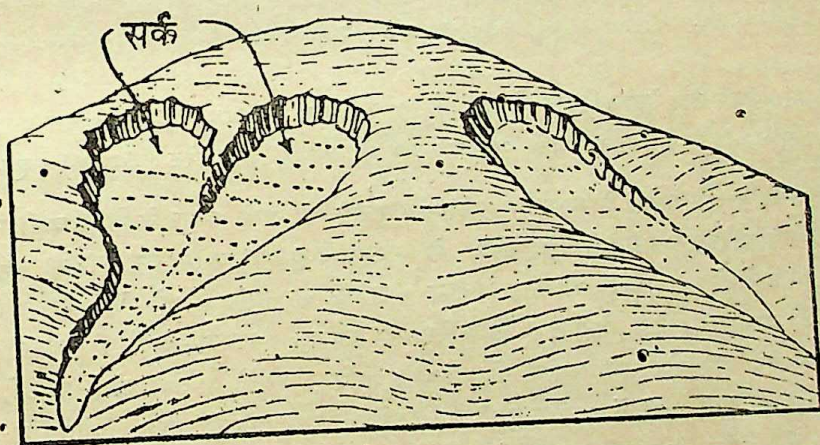
चित्र सं०—१

---

१. बर्किट, एम. सी. एण्ड कामियाडे, एल० ए०—'फ्रेश लाइट ऑन दी स्टोन एज इन साउथ-ईस्ट इण्डिया' एण्टीक्युटी IV, १६३०, पृ० ३२४।

क्षरण के कारण अर्धवृत्ताकार गर्त बन जाता है। इसे सर्क (Cirq) कहते हैं। हिम के पिघलने के बाद ही उसका स्वरूप एकदम स्पष्ट दीखता है। पर्वत-पृष्ठ (Mountain ridge) की ओर प्रायः ये अर्धवृत्ताकार होते हैं तथा निकास का मार्ग नीचे ढाल की ओर होता है। प्रायः एक ही पर्वत के पृष्ठ के दोनों तरफ इस प्रकार के गर्त एक-दूसरे से मिल जाते हैं। उनके मिलने के कारण पर्वत-पृष्ठ की दीवाल समाप्त हो जाती है। पर्वत-पृष्ठ के दोनों ओर के गर्त जब मिल जाते हैं तब उसे कोल (Col) कहते हैं। जब एक ही पर्वत के पृष्ठ के दोनों ओर के कई गर्त आपस में मिल जाते हैं और
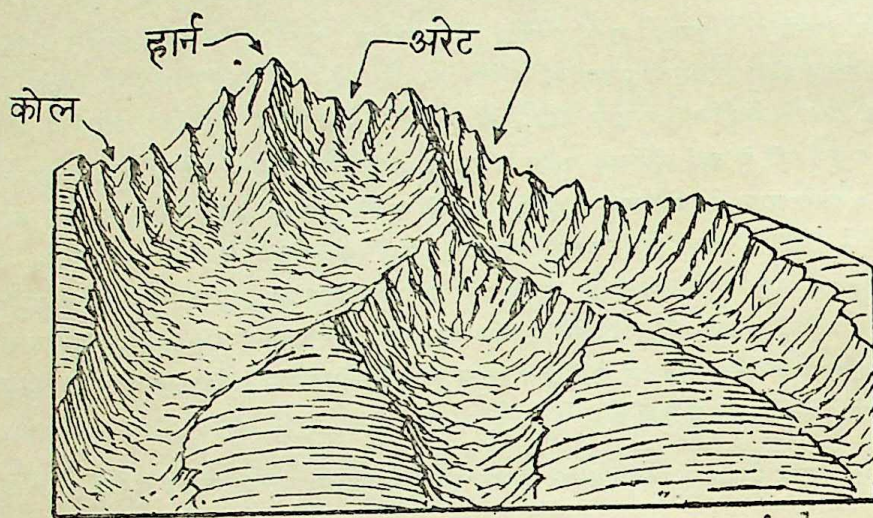
चित्र सं०—२

पर्वत-पृष्ठ का स्वरूप टेढ़ा-मेढ़ा काँटेदार हो जाता है तब उसे हार्न (Horn) कहते हैं। इस प्रकार के पर्वत पर अनेक ढाल बन जाते हैं। फलतः पर्वत-पृष्ठ काँटेदार हो जाते हैं, जिसे अरेट (Arete) कहते हैं।

हिमनदियाँ जैसे पर्वतों के स्वरूप में परिवर्तन करती हैं, उसी प्रकार वे जिस घाटी में बहती हैं उसमें भी विशेष परिवर्तन कर देती हैं। नदियों के समान ये अपनी घाटी का निर्माण नहीं करतीं, अपितु प्राचीन घाटियों पर अपना अधिकार अवश्य स्थापित कर लेती हैं। ये 'V' आकार की संकरी घाटी को 'U' आकार का बना देती हैं। हिमनदियों के घर्षण के कारण घाटी की तलहटी चौड़ी हो जाती है तथा कोने और मोड़ सभी समाप्त हो जाते हैं। विभिन्न पर्वतों से तथा छोटी घाटियों से उतर कर हिमनदियाँ एक बड़ी घाटी में एकत्रित होती हैं। इसलिए मुख्य हिमनदी बहुत विशालकाय हो जाती है। उसकी घर्षण शक्ति भी उसकी सहायक हिमनदियों से बहुत अधिक होती है, जिसके फलस्वरूप मुख्य घाटी गहरी हो जाती है। सहायक हिमनदियाँ भी अपनी घाटी को गहरा करती हैं, किन्तु वे प्रमुख घाटी के इतनी गहरी नहीं हो पाती हैं, क्योंकि उनमें बर्फ की राशि कम होती है। अतः बर्फ के पिघलने के कारण जब हिमनदियाँ लुप्त हो जाती हैं, तो सहायक नदियों की घाटियाँ प्रमुख घाटी से काफी ऊँचाई पर दिखाई देती हैं। इन सहायक घाटियों को टँगी घाटी (Hanging Valley) कहते हैं। इनकी मुख्य पहचान यह होती है कि जहाँ वे मुख्य घाटी से मिलती हैं वहाँ सीधा ढाल होता है।

नदी के समान हिमनदी बाधाओं को बचाती नहीं है, वह उनके ऊपर चल कर निकलने का प्रयास करती है। जिस दिशा से हिमनदी चट्टान पर चढ़ती है उस ओर मंद ढाल बन जाता है, किन्तु जिस दिशा में वह चट्टान से नीचे उतरती है उस ओर वह चट्टान को अधिक तोड़ देती है, जिससे उतरने वाला ढाल काफी गहरा हो जाता है। दूर से देखने पर ये टीले भेड़ के आकार के लगते हैं, अतः इन्हें भेड़-शिला कहते हैं।

हिमनदी अपने अंचल में बहा कर लाई हुई वस्तु को बर्फ के पिघलने पर छोड़ देती है। प्रायः हिमनदी द्वारा जमाई सभी वस्तुओं को ड्रिफ्ट (Drift) कहते हैं। इनको साधारणतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. स्तरित जमाव (Stratified Deposit)

२. अ-स्तरित जमाव (Unstratified Deposit)

हिमनदी द्वारा स्थापित अ-स्तरित जमाव को टिल (Till) कहते हैं। इसकी रचना विभिन्न आकार-प्रकार के पत्थरों से होती है। इनमें बहुत से वृहत् पत्थरों पर खरोंच के निशान होते हैं। वे घिसे हुए तथा चमकदार होते हैं। कुछ पत्थर इधर-उधर विखरे मिलते हैं, किन्तु अधिकांश एक ही स्थान पर ढेर के रूप में मिलते हैं।

संकुचित होती हुई हिमनदी विविध प्रकार से 'टिल' (Till) का जमाव करती है जैसे, मोरेन (Moraine) तथा ड्रमलिन (Drumlin)।

मोरेन कई प्रकार के होते हैं। अन्तिम मोरेन (Terminal Moraine or End Moraine) का जमाव हिमनदी की अन्तिम सीमा पर होता है, जहाँ से बर्फ पिघल-पिघल कर पानी के रूप में बहने लगता है। यहाँ पर कभी-कभी कई सौ फीट (मी०) ऊँचा जमाव-ढेर हो जाता है। चूँकि हिमनदी की गति उस स्थान तक कायम रहती है, अतः क्रमशः इस प्रकार के जमाव में वृद्धि होती रहती है। इनमें से कुछ पानी के साथ भी वहता रहता है।

अन्तिम मोरेन से कुछ पहिले थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे-छोटे ढेर होते हैं, जो हिमनदी के क्रमशः अग्र विकास अवरोध के कारण बने थे। इस प्रकार के मोरेन को अपसर्पण मोरेन (Recessional Moraines) कहते हैं।

हिमनदियाँ बहुत सी सामग्री को अपनी तलहटी में जमा करती जाती हैं। तलहटी में हुए जमाव को तलस्थ मोरेन (Ground Moraine) कहते हैं। हिमनदियों के बगल के जमाव को पार्श्विक मोरेन (Lateral Moraine) कहते हैं। जहाँ पर दो घाटी की हिमनदियाँ मिलती हैं वहाँ पर एक और प्रकार के मोरेन का निर्माण होता है, जिसे मध्यस्थ मोरेन (Medial Maraine) कहते हैं।

ड्रमलिन (Drumlin)

हिमनदियों के अ-स्तरित जमाव से बने हुऐ चिकने लम्बायत पहाणियों को ड्रमलिन कहते हैं। अधिकांशतया ये चौथाई मील से आधे मील लम्बे होते हैं। इनकी लम्बान चौड़ान से कई गुना अधिक होती है। कभी कभी ड्रमलिन समूहों में मिलते हैं। इनमें जिधर से बर्फ आती है उधर खड़ा ढाल होता है दूसरी ओर का ढाल मन्द होता है।

स्तरित जमाव (Stratified Deposit)

हिमनदी के पिघले पानी (Melt Water) के साथ कटे हुए छोटे पत्थर, कण आदि छट कर तलहटी में जमने लगते हैं। इनका जमाव उनके आकार-प्रकार के अनुसार क्रम से होता है, अतः उन्हें स्तरित जमाव कहते हैं।

केटिल्स (Kettles)

कभी-कभी बर्फ के विशाल खण्ड समाप्त होती हुई हिमनदी से अलग बहकर 'टिल' के नीचे, पिघलने से पहले दब जाते हैं। पिघलने के बाद जिस स्थान पर वे दबे थे वहाँ जमाव में एक गड्ढा बन जाता है। कभी-कभी इनका आकार काफी बड़ा होता है। कालान्तर में पानी भरने से वे झील का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे झील को केटिल्स की संज्ञा प्रदान की जाती है।

एस्कर्स (Eskers)

स्तरित प्रकार के ग्रैवल तथा बालू के बने घुमावदार, ढालदार जमाव को एस्कर कहते हैं। इनकी ऊँचाई भिन्न-भिन्न होती है।

हिमविदर केम (Crevasse fillings)

ये एकदम सीधे एस्कर के समान होते हैं।

केम्स तथा केम टेरेस (Kames and Kame Terrace)

कभी-कभी स्तरित जमाव ढालदार छोटी पहाड़ियों के समान होते हैं, जिन्हें केम कहते हैं। इनका कोई निश्चित आकार-प्रकार नहीं होता है। बहुत अंशों में ये हिम विदर केम (Crevasse fillings) के समान होते हैं। केम वेदिका ऐसे स्तरित जमाव को कहते हैं, जो समाप्त होती हुई हिमनदी और निकटवर्ती घाटी के बीच बनता है।

हिमायित अनुवर्षस्तर (Glacial Varve)

हिमनदी के पिघले पानी द्वारा निर्मित स्तरित जमाव को कहते हैं, जिसमें एक मोटे कणों के पर्त के ऊपर महीन कणों की पर्त क्रमशः जमी होती है। इस प्रकार के मोटे और महीन कणों के दो पर्तों के सम्मिलित जमाव में लगभग एक वर्ष लगते हैं। इस प्रकार के पर्त प्रतिवर्ष जमते जाते हैं। मोटे और पतले कणों के पर्तों को सम्मिलित रूप से वार्व की संज्ञा प्रदान करते हैं।

परिहिमायित मण्डल (Periglacial Zone)

हिमायित प्रदेशों से परे किन्तु उनसे लगे हुए स्थानों को परिहिमायित मण्डल (Periglacial Zone) कहते हैं। साधारणतः परिहिमायित मण्डल में तीन प्रकार के स्थान मिलते हैं : टुण्ड्रा, लोयस स्टेप तथा टायगा। इस समय टुण्ड्रा का प्रदेश ध्रुवों के निकट ही सीमित है। यह प्रदेश प्रायः उजाड़-सा होता है। निकटवर्ती हिमायित प्रदेशों के समीप होने के कारण यहाँ की जलवायु बहुत अधिक ठण्डी होती है तथा साधारणतया जीवों की उत्पत्ति और विकास के लिए अनुकूल नहीं होती। इस प्रदेश में वनस्पति प्रायः घाटियों के किनारे या अन्य उपयुक्त स्थानों में ही होती है। लोएस स्टेपी (Loess steppe)

पेरीग्लेशियल जोन का मध्यवर्ती भाग होता है । टुण्ड्रा प्रदेशों की अपेक्षा इसकी जलवायु शुष्क होती है । यह प्रदेश जीवों की उत्पत्ति और विकास के लिए सबसे अनुकूल होता है । लोयस स्टेपी के बाद का प्रदेश टायगा के नाम से प्रसिद्ध है ।

नदी वेदिका

जिस प्रकार हिमनदियाँ हिमायित प्रदेशों के निर्माण में विशेष योगदान देती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी हिमायित प्रदेशों से परे भूखण्ड के निर्माण के लिए विशेष उत्तरदायी हैं । साधारणतः नदियाँ अपनी शक्ति का प्रदर्शन दो प्रकार—अपरदन (Erosion) तथा निक्षेपण (Deposition)—से करती हैं । इन्हीं क्रियाओं के फलस्वरूप वे अपनी घाटी तथा वेदिकाओं का निर्माण करती हैं । ये क्रियाएँ अनेक कारणों पर आधारित होती हैं, जैसे जल की मात्रा और गति आदि । जल की मात्रा नदी के स्रोत पर आश्रित होती है । जिन नदियों का जल-स्रोत हिमनदी है, उनमें साधारणतः हिम प्रत्यावर्तन काल में जलाधिक्य और हिमावर्तन काल में उसमें अपेक्षाकृत न्यूनता होगी । किन्तु जिन नदियों का स्रोत हिम नहीं है और जो मुख्यतः जलवृष्टि अथवा विशाल झीलों पर आश्रित हैं, उनमें वृष्ट्यावर्तन काल में जलाधिक्य तथा प्रत्यावर्तन काल में न्यूनता होगी । इसी प्रकार नदी का प्रवाह पानी के आधिक्य के अतिरिक्त प्रवाह-मार्ग के ढलान पर भी आधारित होता है । नदी के प्रवाह-मार्ग के ढलान में परिवर्तन उसकी क्रियाओं को विशेषतः प्रभावित कर सकता है । इसी प्रकार समुद्रीय जल-तल में परिवर्तन तथा अन्य कारण भी नदी को प्रभावित करते हैं, जिसका विचार आगे किया जाएगा ।

साधारण परिस्थिति में गतिवान नदी अपरदन तथा गतिहीन नदी निक्षेपण करती है । प्रायः दोनों ही कार्य नदी के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ होते रहते हैं । गति में तीव्रता के कारण वह अपने धरातल तथा पार्श्व को निरन्तर काटती रहती है तथा मार्ग में आयी सभी वस्तुओं को अपने अंचल में समेटती हुई आगे बढ़ती है, किन्तु जैसे-जैसे गति मन्द होने लगती है, उसकी अपरदन क्रिया कम हो जाती है तथा भार वहन करने की शक्ति भी क्षीण होने लगती है । फलतः वह धीरे-धीरे अपने अंचल में बहाकर लाई हुई सभी वस्तुओं को धरातल में एकत्रित करने लगती है ।
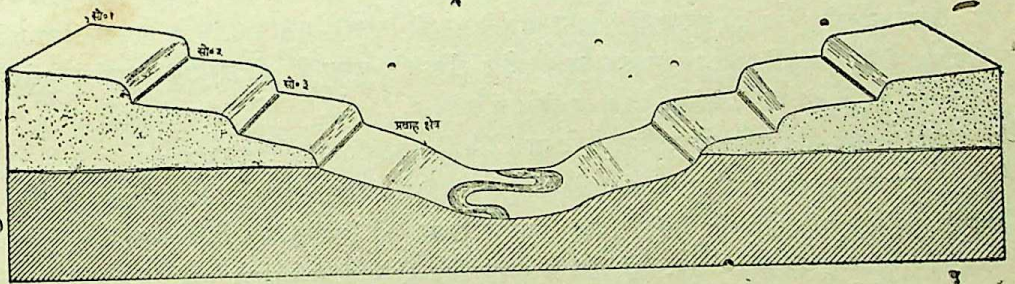
चित्र सं०—३

जिन क्षेत्रों में नदी का ढाल (Gradient) अधिक होता है तथा जल की गति तीव्र होती है, उन क्षेत्रों में नदी अपरदन करती है । इस प्रकार निरन्तर अपरदन (क्षरण) के कारण उसकी घाटी गहरी होती जाती है । फलतः नदी के किनारे ऊँचे होते जाते हैं, जिन्हें प्रवाह-मैदान (Flood Plains) कहते हैं । इसके विपरीत समतल क्षेत्रों में जहाँ जल की गति अपेक्षाकृत कम होती है, वहाँ नदी ऊपर के क्षेत्रों से बहाकर लायी गई सामग्री को क्रमशः अपने धरातल में एकत्रित करती रहती है, जिसके कारण उसकी तलहटी ऊँची हो जाती है और नदी को अपना प्रवाह-स्थान परिवर्तन करना पड़ता है । इस स्थानान्तरण

से जलधारा के पार्श्व की भूमि ऊँची हो जाती है। ऐसे पार्श्व को भी प्रायः प्रवाह-मैदान ही कहते हैं। इन दोनों प्रकार के कगारों का निर्माण नदी की दो कृतियों—अपरदन तथा निक्षेपण—से होता है। साधारणतः यह दोनों ही क्रियाएँ नदी के ऊपरी भाग, मध्य एवं निचले भागों में एक साथ चलती रहती हैं। यदि सभी परिस्थितियाँ सभी स्थानों पर सदैव एक ही प्रकार की रहें और किसी में कोई परिवर्तन न हो, तो अनुमान किया जा सकता है कि नदी की यह दोनों क्रियाएँ समानतः होती रहेंगी, किन्तु इस प्रकार की आदर्श परिस्थिति की कल्पना बोधगम्य नहीं है। प्रकृति में होने वाले परिवर्तन इन्हें निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं। फलतः नदी के जिन क्षेत्रों में अपरदन हुआ है वहाँ निक्षेपण तथा जिन क्षेत्रों में निक्षेपण हुआ है वहाँ अपरदन होने लगता है। इसी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नदी अपने नये कगारों का निर्माण करती है। जब यही क्रिया तथा प्रति-क्रिया कई बार होती है तब एक के बाद दूसरा सीढ़ीनुमा कगार बन जाता है। इन्हें वेदिका (Terrace) की संज्ञा प्रदान करते हैं। इन वेदिकाओं में नदी-जीवन का सम्पूर्ण इतिहास निहित होता है तथा प्रत्येक वेदिका का सम्बन्ध प्रातिनूतन काल के विशिष्ट जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों से स्थापित किया जा सकता है—

नदी-जीवन में परिवर्तन मुख्यतः तीन कारणों से होता है—

१. विवर्तनिक (Tectonic); २. समुद्रीय जल-तल परिवर्तनजनित (Thalassostatic); ३. जल-वायुजनित (Climatic)।

१. विवर्तनिक वेदिका (Tectonic Terrace)

प्रायः भूगर्भीय उथल-पुथल के कारण कभी-कभी पृथ्वी का कोई भाग ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन स्थानीय अथवा विस्तृत हो सकता है। जब नदी का प्रवाह-मार्ग ऊँचा उठ जाता है अथवा नीचे का भाग अधिक ढालू हो जाता है तब उसके प्रवाह में तीव्रता आ जाती है और वह अपनी भरी घाटी के धरातल को केवल काटने ही नहीं लगती है, अपितु अधिक सामग्री भी बहाकर ले जाने लगती है। उसकी घाटी अपेक्षाकृत अधिक गहरी होती जाती है। फलतः नवीन वेदिका का निर्माण होता है। यदि धरातल का झुकाव नदी के समानान्तर न होकर उससे समकोण बनाते हुए होता है, तो नदी उस समय तक प्रभावित नहीं होती है, जब तक कि मुख्य नदी जिसकी कि वह सहायक नदी है, उसका धरातल गहरा नहीं होता है। मुख्य नदी के गहरा होने पर भी उसका प्रभाव संगम के निकटवर्ती भाग में ही अधिक होता है। यदि प्रवाह-मार्ग के मध्य का क्षेत्र ऊँचा हो जाता है, तो ऊपर के भाग में निक्षेपण होने लगता है, जिससे नवीन वेदिका का जन्म होता है।

२. समुद्रीय जल-तल परिवर्तनजनित वेदिका (Thalassostatic Terrace)

इस प्रकार की वेदिका का निर्माण विश्वव्यापी समुद्रीय जल-तल परिवर्तन के फलस्वरूप होता है। समुद्रीय जल-तल परिवर्तन नदियों की वेदिका निर्माण क्रिया को विशेषतः प्रभावित करता है। हिमायन काल में वातावरण की अधिकांश आर्द्रता हिम में रूपान्तरित हो जाती है। फलतः समुद्र में जल की मात्रा के कम होने से उसका तल अपेक्षाकृत नीचा हो जाता है। समुद्रीय जल-तल के नीचा होने से नीचे के भागों में नदियों में स्फूर्ति आ जाती है और वह बिना अवरोध के अबाध गति से बहने लगती है। फलतः नदी जिस निचले भाग में पहले निक्षेपण कर रही थी अब उसी भाग का अपरदन करने लगती है। इस प्रकार स्वतः भरी हुई घाटी को काटकर नदी नवीन अपरदनित वेदिका (Erosional Terrace) का निर्माण करती है। नदी के ऊपरी भागों में परिस्थिति भिन्न होती है। हिमायन काल में हिम के कम पिघलने से नदियों में जल की मात्रा तथा गति दोनों ही अपेक्षाकृत कम हो जाते हैं। फलतः नदी में भार वहन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और वह अपने जल-तल में बहाकर लाई हुई वस्तुओं को एकत्रित करने लगती है।

हिम प्रत्यावर्तन काल में हिम पिघलने लगती है। फलतः नदियों के द्वारा समुद्र में अधिक जल एकत्रित होने लगता है, जिससे समुद्र का जल-तल अपेक्षाकृत ऊँचा हो जाता है। समुद्रीय जल-तल की वृद्धि नदी-वेदिका-निर्माण क्रिया को भिन्न प्रकार से प्रभावित करती है। समुद्र-तल के ऊँचा होने से नदी की गति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और पानी का बहाव रुक सा जाता है, जिससे नदी में भार वहन करने की शक्ति नहीं रह जाती। फलतः नदी के निचले भाग में पुनः निक्षेपण होने लगता है और ऊपर के भाग में अपरदन होता रहता है। इस प्रकार हिमावर्तन काल में ऊपरी भागों में स्वयं भरी हुई घाटी तथा नीचे के भागों में क्षरित घाटी का हिम प्रत्यावर्तन काल में क्रमशः अपरदन तथा निक्षेपण होने लगता है। चूंकि विभिन्न हिमावर्तन तथा हिम प्रत्यावर्तन कालों में समुद्र का जल-तल भिन्न होता है, अतः तदनुरूप विभिन्न हिमावर्तन तथा हिम प्रत्यावर्तन कालों में अपरदन तथा निक्षेपण और तत्सम्बन्धित वेदिकाएँ भी भिन्न होती हैं।

जिन क्षेत्रों में हिमायन नहीं हुए थे तथा उनके स्थान पर वृष्ट्यावर्तन तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन हुए वहाँ भी समुद्रीय जल-तल परिवर्तनों ने नदी-वेदिकाओं को प्रभावित किया। डॉ० ज्वाएनर की धारणा है कि ऊष्ण कटिबंधी देशों (Tropical Regions) में वृष्ट्यावर्तन काल हिम प्रत्यावर्तन के तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तन काल हिमावर्तन के समान नदी-वेदिका-निर्माण की परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है।[1]

३. जलवायुजनित वेदिका (Climatic Terrace)

नदियों में पुनर्जीवन विवर्तनिक (भूगर्भीय) परिवर्तनों तथा समुद्री जल-तल परिवर्तनों के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी हो सकता है जैसे, जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण। ये मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं। मोरेन से सम्बन्धित नदियों में भार की न्यूनता के कारण, आर्द्र तथा शुष्क जलवायु, नवीन प्रवाह-मार्ग अथवा घाटी में विस्तार के फलस्वरूप जल के प्रवाह तथा मात्रा में अधिकता अथवा न्यूनता के फलस्वरूप।

ऐसी नदियाँ जिनकी उत्पत्ति हिमनदी के मोरेन से होती है, वे मोरेन से बहुत-सा भार ग्रहण करती हैं। जल के अनुपात में भार का अनुपात अधिक होता है, अतः वे अपनी अधिकांश सामग्री तलहटी में विसर्जन करती रहती हैं, जिससे उनकी तलहटी क्रमशः ऊँची होती जाती है। हिमायन काल के अन्त में बर्फ के अधिक पिघलने के कारण जलाधिक्य हो जाता है और हिमनदी के हिम-समाप्ति के कारण उसकी घर्षण शक्ति कम हो जाती है, जिससे नदी के भार में न्यूनता आ जाती है। ऐसी स्थिति में नदी अपने उस क्षेत्र में जहाँ निक्षेपण करती थी वहाँ अब अपरदन करने लगती है। नदी का तल गहरा होता जाता है और पार्श्व में ऊँचे कगार छूट जाते हैं। इस प्रकार नवीन वेदिका का निर्माण होता है।

अति वर्षा अथवा जलवायु में शुष्कता भी वेदिका-निर्माण क्रिया को विशेषतः प्रभावित करती है। जलाधिक्य के कारण प्रवाह में तीव्रता आ जाती है और नदी में भार वहन करने एवं अपरदन की शक्ति में और वृद्धि हो जाती है, जिससे वे अपनी घाटी को अधिक गहरा कर देती हैं, किन्तु जलवायु के फिर शुष्क होने पर पानी की मात्रा तथा गति में कमी हो जाती है। नदी फिर से अपनी घाटी को भरने लगती है। फलतः एक नवीन वेदिका का निर्माण होता है। ऐसे स्थानों में प्रथम आर्द्र काल में नदी अपनी तलहटी को एक विशेष गहराई तक ही काटती है और शुष्क काल में उसे फिर कुछ दूरी तक भर देती हैं। इसी प्रकार दूसरे आर्द्र काल में अपनी भरी हुई तलहटी को फिर काटती है और दूसरे शुष्क

१. संकालिया, एच० डी०—स्टोन एज टूल्स, १९६४, पृ० ८, ज्वाएनर से उद्धरित।

काल में फिर से भरती है। इस-प्रकार नदी का अपरदन तथा निक्षेपण चलता रहता है और वेदिकाओं का निर्माण होता रहता है। प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक बार नदी जितना भरती है उससे अधिक काटती
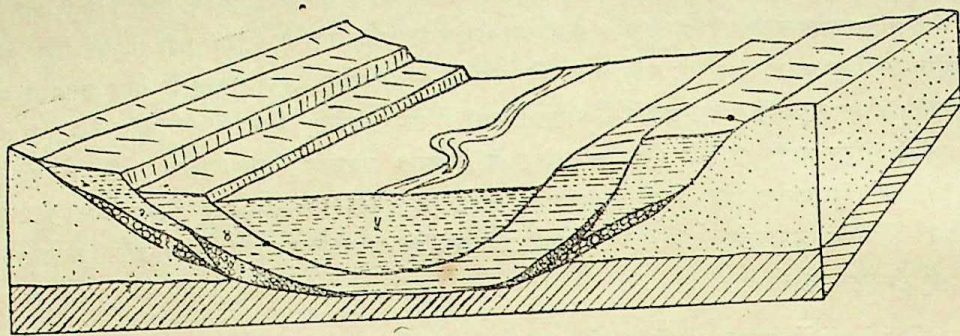
चित्र सं०—४

है और इस प्रकार उसकी तलहटी अपेक्षाकृत पहले से अधिक गहरी होती जाती है।[१] उपर्युक्त चित्र सं० ४ में इसी क्रिया को स्पष्ट किया गया है। प्रथम काल में नदी ने तलहटी काटकर अपनी घाटी का निर्माण किया और (१) का जमाव किया, जिसमें बहाकर लाये हुए पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़े थे। पानी की गति क्षीण होने पर नदी सिल्ट (२) का जमाव करने लगी और उसने अपनी घाटी को भर दिया। कालान्तर में किन्हीं कारणों से जब नदी फिर से पुनर्जीवित हुई तब फिर अपरदन प्रारम्भ किया और अनेक स्थानों पर (२) तथा (१) को फिर से काट दिया। उनके स्थान पर नवीन सामग्री (३) का पहले और फिर पानी कम होने पर (४) का जमाव किया। प्रथम चक्र के फलस्वरूप उसने प्रथम अथवा सबसे ऊँची वेदिका का निर्माण किया। नदी का यह अपरदन तथा निक्षेपण का क्रम चलता रहता है। इसी के फलस्वरूप नदी अपनी वेदिकाओं, अनुभागों तथा घाटियों का निर्माण करती रहती है।
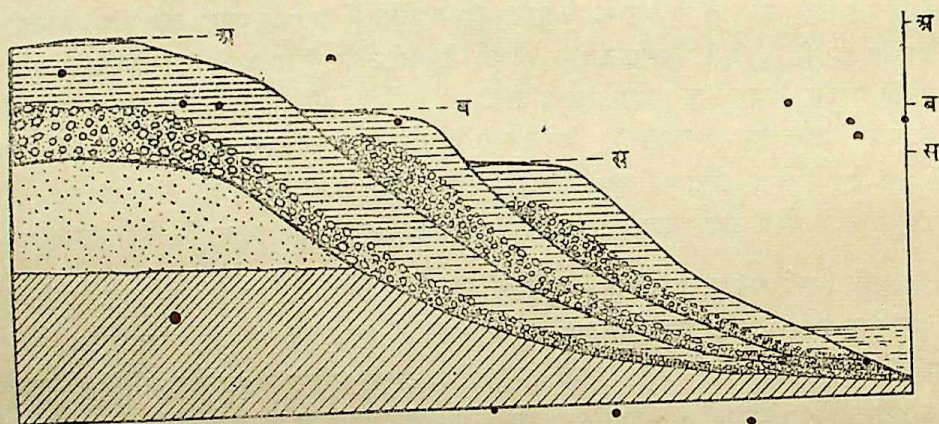
चित्र सं०—५

चित्र सं० ५ में इसी क्रिया को और सरल रूप से प्रदर्शित किया गया है। प्रथम काल में नदी ने अपनी घाटी को काटकर उसमें पहले ग्रैवल तथा बाद में सिल्ट का जमाव किया। दूसरे काल अथवा

१. ज्वाएनर, एफ० ई०—दी प्लायस्टोसीन पीरिएड, पृ० ४७।

चक्र में यही क्रिया फिर हुई, किन्तु नदी अपनी घाटी को केवल 'ब' तक ही भर सकी। तीसरे चक्र में उसकी ऊँचाई और कम हो गई तथा नदी केवल 'स' तक ही भर सकी। इस प्रकार नदी के निरन्तर अपरदन तथा निक्षेपण के फलस्वरूप 'अ' 'ब' 'स' तीन वेदिकाओं का निर्माण हुआ। इनमें 'अ' प्राचीनतम तथा 'स' नवीनतम हैं।

नदी के मार्ग परिवर्तन अथवा दूसरी नदियों से मिलने के कारण उसके प्रवाह-गति तथा जल की मात्रा में अन्तर आ जाता है। इससे भी वेदिका-निर्माण क्रिया विशेषतः प्रभावित होती है। प्रवाह में अवरोध के कारण नदी अपनी तलहटी को भरने लगती है और स्थानान्तरण भी करती है। स्थानान्तरण से प्रवाह-गति में तीव्रता आ जाती है। फलतः नदी अपरदन करने लगती है। इसी प्रकार जब दो नदियों का जल मिल जाता है तब भी जल की मात्रा और प्रवाह में अन्तर के कारण वेदिका सम्बन्धी महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि नदी के दो कृत्य अपरदन और निक्षेपण के क्रिया-प्रतिक्रिया से ही वेदिका का निर्माण होता है। वेदिका की सामग्री का जमाव निक्षेपण काल में होता है, किन्तु वास्तविक वेदिका का निर्माण अपरदन से ही होता है। नदियाँ अपनी वेदिकाओं को काटकर बनाती हैं।[1] कौटन ने सभी प्रकार की वेदिकाओं को दो भागों में विभाजित किया है। चक्रिक (युग्मित) वेदिका (Cyclic Terrace) तथा अ-चक्रिक (अयुग्मित) वेदिका (Non-cyclic Terrace)। इनका निर्माण नदी के पुनर्जीवन के कारण होता है। नदी का तल क्षरण के कारण निरन्तर नीचा होता जाता है और पहले के कछार वेदिका का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार नदी एक कछार के नीचे दूसरा कछार बना लेती है। इस प्रकार की वेदिकाओं की विशेषता यह होती है कि वे युग्मित (Paired) होती हैं और दोनों पार्श्वों पर वेदिका की ऊँचाई बराबर होती है। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ काल तक तलहटी को काटने के बाद नदी की अपरदन क्रिया कुछ समय तक के लिए रुक गई थी। उस काल में नदी ने पार्श्व को काटना प्रारम्भ किया और अपनी घाटी का निर्माण किया। इस प्रकार की वेदिकाओं का निर्माण नदी की निक्षेपण और अपरदन क्रियाओं द्वारा ही होती है। ये प्रमुखतः मौसम के परिवर्तन पर आधारित होते हैं। कौटन के अनुसार अ-चक्रिक वेदिका (Non-cyclic Terrace) अ-युग्मित होते हैं। इस प्रकार की वेदिकाओं का निर्माण नदी-तल के निरन्तर अपरदन के साथ-साथ पार्श्विक अपरदन (Lateral erosion) के कारण होता है। ऐसी वेदिका का निर्माण अनियमित अवरोध के फलस्वरूप कभी-कभी प्रवाह-मोड़ों के कारण, कभी आधारशिलाओं के कारण भी होता है। एक ही घाटी में दोनों प्रकार की वेदिकाओं का होना असम्भव नहीं है।

नदी के दोनों किनारों की वेदिकाओं के परस्पर सम्बन्धीकरण में प्रायः अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। जब विभिन्न वेदिकाओं की ऊँचाई में अधिक अन्तर होता है तब उनकी ऊँचाई को नापकर उनका सम्बन्धीकरण सरलता से किया जा सकता है। किन्तु वास्तविक कठिनाई उस समय होती है, जबकि विभिन्न वेदिकाओं की ऊँचाई में अधिक अन्तर नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में जीवाश्मों तथा पत्थरों के विगलन (Decomposition) के साक्ष्य, वेदिका की निर्माण-सामग्री का परीक्षण आदि भी विशेष लाभदायक नहीं होता, क्योंकि इन वेदिकाओं के निर्माण में समय का अन्तर भी प्रायः अधिक नहीं होता है, अतः इन सब वस्तुओं का अन्तर अथवा भेद नगण्य-सा होता है। ऐसी स्थिति में वेदिकाओं के

---

१. कौटन, सी० ए०—क्लैसीफिकेशन एण्ड कोरिलेशन आफ़ रीवर टैरेस, जे० जीओमार्फोलॉजी।

पृथक्करण का एकमात्र साधन पूरी घाटी का सूक्ष्म परीक्षण मात्र रह जाता है। पूरी घाटी की विभिन्न वेदिकाओं की ऊँचाई को नाप कर ही इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित मत दिया जा सकता है।

सबसे अधिक कठिनाई एक घाटी से दूसरे घाटी की वेदिकाओं के सम्बन्धीकरण में होती है, क्योंकि विभिन्न घाटियों में वेदिकाओं की विभिन्न ऊँचाई का होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उनका सम्बन्धीकरण केवल ऐसे स्थान पर किया जा सकता है, जहाँ पर दोनों एक दूसरी से मिलती हों। सबसे अधिक कठिनाई दूर के क्षेत्रों की वेदिकाओं के सम्बन्धीकरण में होती है। उसके लिए उनकी ऊँचाई, नदियों का उद्गम, नदियों का विसर्जन स्थल तथा जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियाँ जिन्होंने नदियों को प्रभावित किया था आदि का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

प्रवाह-मोड़ (Meander)

साधारणतया नदी सदैव ही प्रत्येक प्रकार के गत्यवरोधों को बचाती है और जब अवरोध आ जाते हैं, तो वह अपना मार्ग ही बदल देती है। इसी कारण नदी का प्रवाह-मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। टेढ़े-मेढ़े बहाव को प्रवाह-मोड़ अथवा मियेण्डर कहते हैं। प्रवाह-मोड़ों में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है और प्रायः ऐसा भी होता है कि दोनों सिरे एक दूसरे के बहुत निकट आकर मिल जाते हैं। मोड़ के चक्र (Loop) का भाग छूट जाता है तथा प्रवाह सीधा हो जाता है। इस प्रकार से परित्यक्त मोड़ को (Oxbow Lake) कहते हैं। धीरे-धीरे मृत-झील या मोड़दार झील के दोनों किनारे भर जाते हैं और पुराना प्रवाह-मोड़ नवीन धारा से बिलकुल अलग हो जाता है।

प्रवाह-मोड़ में नदी का जल भिन्न-भिन्न वेगों से बहता है। जल की गति मोड़ के अन्दर के भाग में कम और बाहरी भाग में अधिक होती है। मोड़ के बाहरी भाग में जल के वेग को अधिक करने में न केवल ढाल ही सहायक है, वरन् प्रारम्भिक बहाव के उस दिशा में होने से भी सहायता मिलती है। प्रवाह-मोड़ के बाहरी भाग का ढाल अधकि होता है और उसके नतोदर भाग का ढाल कम होता है, अतः प्रवाह-मोड़ के बाहरी भाग में नदी अपरदन तथा अन्दर की ओर निक्षेपण करती है। अपरदन के कारण प्रवाह-मोड़ के बाहरी भाग की ओर वह सीधा करार काटती है।

नदी-अनुभाग (River Section)

नदी द्वारा काटे गए सीधे करारों को नदी-अनुभाग कहते हैं। प्रागितिहास के अध्ययन के लिए ये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि जहाँ ये नदी-जीवन पर प्रकाश डालते हैं, वहाँ प्रागैतिहासिक काल की सापेक्षिक तिथि-निर्धारण (Relative-dating) में भी सहायता प्रदान करते हैं। नदी-अनुभाग में नदी के विभिन्न कालों के जमाव स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। ये जमाव अपनी सामग्री तथा अपने रंग के आधार पर अलग किये जा सकते हैं। प्रत्येक जमाव नदी के जीवन-काल के एक विशेष काल का द्योतक है। साधारणतः पहाड़ी नदियों में दो प्रकार के जमाव देखे गये हैं। प्रथम प्रकार के जमाव को ग्रैवेल डिपाजिट (Gravel Deposit) तथा दूसरे प्रकार को सिल्ट डिपाजिट (Silt Deposit) कहते हैं। प्रायः ग्रैवेल जमाव तथा सिल्ट जमाव चक्रवत रूप में मिलते हैं। कहीं-कहीं पर इनका एक चक्र मिलता है और कहीं-कहीं पर इस प्रकार के दो या दो से अधिक चक्र भी मिलते हैं। साधारणतः एक ग्रैवेल जमाव एवं उसके ऊपर का सिल्ट जमाव एक पूर्ण चक्र का द्योतक है और यह पूर्ण चक्र नदी के जीवन के एक उतार-चढ़ाव का परिचायक है। ग्रैवेल जमाव में चूंकि छोटे-बड़े सभी प्रकार के पत्थर सम्मिलित होते हैं, अतः उनको

बहाकर लाने के लिए प्रवाह की तीव्रता तथा अधिक जल का होना आवश्यक है, अतएव इस प्रकार का जमाव नदी-जीवन के आर्द्र काल से सम्बन्धित किया जाता है। उसी प्रकार सिल्ट का जमाव प्रायः उस समय ही होता है, जब नदी में उतना भी भार वहन करने की शक्ति नहीं रह जाती है, अतः सिल्ट जमाव काल को नदी के शुष्क काल से सम्बन्धित किया जाता है। नदियों के जमाव में इस प्रकार का परिवर्तन दीर्घकालीन जलवायु के परिवर्तनों के कारण ही होता है। नदियों के अनुभाग के जमावों को नदी वेदिकाओं से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि जिन कारणों से ये जमाव बने उन्ही कारणों से वेदिकओं का भी निर्माण होता है। किन्तु अनुभाग तथा वेदिका में एक मूल अन्तर है। साधारणतया यदि विशेष उथल-पुथल नहीं हुई है, तो अनुभाग में सबसे नीचे के स्तर की वस्तु प्राचीनतम होती है और सबसे ऊपर की वस्तु अपेक्षाकृत आधुनिक किन्तु वेदिकाओं में जो नदी से जितना दूर तथा ऊपर होता है वह उतना ही अधिक प्राचीन होता है।[1]

अनुभाग में प्राप्त ग्रैवेल जमाव के अन्दर के पत्थरों के आकार, उनके कोण तथा घिसने की अवस्था को देखकर अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रायः कोणयुक्त कम घिसे पत्थर इस बात के प्रमाण हैं कि ग्रैवेल में लायी हुई सामग्री बहुत दूर से नहीं आयी है और सम्पूर्ण जमाव स्थानीय (In-Situ) माना जा सकता है। पत्थरों के झुकाव से यह ज्ञात होता है कि बहाव का रूख किस दिशा में था। यदि ग्रैवेल का जमाव छटा हुआ है (अर्थात् बड़े पत्थर नीचे उससे छोटे उसके ऊपर तथा सबसे छोटे सबसे ऊपर), तो प्रायः इसका अर्थ होगा कि सम्पूर्ण जमाव अपेक्षाकृत स्थिर जल में हुआ है, जब कि सम्पूर्ण घाटी पानी से भरी हुई थी। इसी प्रकार विभिन्न आकार के मिले-जुले पत्थरों का जमाव इस बात का संकेत करता है कि उसका जमाव गतिशील जल में इतनी जल्दी हुआ कि नदी को उनको छाटने का अवसर नहीं मिल सका। इन सभी बातों का महत्त्व उस समय बहुत अधिक बढ़ जाता है, जब जमाव में हमें प्रागैतिहासिक मानव के उपकरण मिलने लगते हैं, क्योंकि उपर्युक्त संकेतों से उसके आवासों की खोज आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

वायु के कार्य (Funtions of Wind)

जिस प्रकार हिम तथा जल आर्द्र प्रदेशों के निर्माण में विशेष योगदान देते हैं, उसी प्रकार वायु भी शुष्क क्षेत्रों की प्रकृति को विशेषतः प्रभावित करता है। बहते जल की अपेक्षा वायु में अधिक वेग होता है, अतः उसी अनुपात में उसका कार्य क्षेत्र भी बहुत बड़ा होता है। अतएव पवन का मलवा बड़े विशाल क्षेत्र में उठता-गिरता अपना कार्य करता है। पानी के समान पवन भी अपरदन तथा निक्षेपण करता है, किन्तु दोनों की इन क्रियाओं में बहुत अन्तर होता है। पवन का अपरदन स्थूल होता है। जिसे प्रायः वह तीन प्रकार से करता चलता है :—

(१) उठाव (Deflation)
(२) घिस्राव (Abrasion)
(३) साधन-नाश (Atrition)

गतिवान वायु सभी कणों को उठाकर हवा में ले जाने में समर्थ नहीं होती है, किन्तु एक बार उनको स्थानच्युत करने के बाद दूर तक ले जा सकती है। बालू के छोटे कणों को बहती हुई हवा पृथ्वी से

१. देखिए चित्र संख्या ४ तथा ५।

ऊपर उठा लेती है। हवा में बालू के उठाने को उठाव (Deflation) कहते हैं। कहीं-कहीं पर इतनी अधिक बालू पवन द्वारा उड़ जाती है कि बड़े-बड़े गड्ढ़े बन जाते हैं। कभी-कभी ये गड्ढ़े बहुत विशालकाय हो जाते हैं। उठाव द्वारा केवल बालू के बहुत छोटे करण और गर्द ही हवा में उड़ पाते हैं। जो अपेक्षाकृत बड़े टुकड़े होते हैं उनको हवा उड़ा कर नहीं ले जा पाती। ऐसे कणों को जिन्हें हवा उड़ाकर नहीं ले जा पाती है, उसे वह ढुलकाकर अथवा घसीट कर ले जाती है। उनके इस प्रकार से घसीटने के कारण जिस सतह पर ये घसिटते हैं वह स्थल घिस जाता है। उड़ते हुए कणों और बालू से जो कुटाव होता है, उसको घिसाव कहते हैं। इस प्रकार के घिसाव के चिह्न पत्थरों के टुकड़ों आदि पर विशेषतः परिलक्षित होते हैं। ये केवल रेगिस्तान में ही नहीं प्रायः उन सभी स्थानों में भी मिलते हैं, जहाँ पर वायु का प्रभाव होता है।

प्रायः निरन्तर घिसाव के कारण बालू के कण इतना अधिक घिस जाते हैं कि वे केवल गर्द मात्र रह जाते हैं और उनका स्वयं नाश हो जाता है। इसको साधन-नाश (Atrition) कहते हैं।

वायु-जमाव (Aeolian Deposits)

वायु की मन्द गति होने पर उड़ा कर लाई हुई बालू तथा धूल क्रमशः जमने लगती है। पवन के जमाव से पृथ्वी का धरातल विभिन्न स्वरूपों को धारण करता है। धरातल के स्वरूप में परिवर्तन बहुत सी वस्तुओं पर आधारित होता है, जैसे, कणों का आकार, वनस्पति की उपस्थिति अथवा अभाव, वायु की दिशा तथा उड़ाकर लाई हुई वस्तु की मात्रा।

लोयस (Loess)

यह हल्के पीले रंग का अस्तरित जमाव होता है, जिसकी मोटाई कुछ सेण्टी मीटरों से लेकर कई मीटरों तक हो सकती है। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि लोयस का जमाव वायु के द्वारा ही होता है, क्योंकि इस प्रकार के जमाव प्रायः सभी स्थानों, पहाड़ों के ढाल, घाटियों तथा मैदानों में समानतः मिलते हैं।

बालू का जमाव (Sand Deposits)

लोयस का जमाव समान रूप से होता है, किन्तु बालू का जमाव उससे भिन्न प्रकार का होता है। ये वायु के बहाव के अनुरूप स्वरूपों को धारण करते हैं। वायु प्रायः बालू के कणों को ढेर के रूप में एकत्रित करता है, जिन्हें रेत का टीला अथवा (Sand Dune) कहते हैं। ये बालू के ढेर प्रायः वायु के साथ घसकते भी रहते हैं तथा इनकी ऊँचाई कुछ मीटर से कई सौ मीटर तक हो सकती है। विचारणीय है कि बालू इस प्रकार के ढेर क्यों और कैसे बनाता है? प्रायः इनका निर्माण उस समय होता है, जब कोई वनस्पति आदि उड़ते हुए बालू के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है। इस प्रकार का छोटा या बड़ा कोई भी अवरोध वायु के मार्ग में थोड़ा परिवर्तन कर देता है, जिससे उस अवरोध के सामने बालू का ढेर बनने लगता है। अवरोध के कारण वायु वहाँ भँवर (Eddies) बनाने लगती है, जिसकी गति साधारण वायु की गति से कम होती है। बालू के कण जब अवरोध से टकराते हैं तब वे अवरोध के सामने गिर कर स्थापित हो जाते हैं और इस प्रकार उसका आकार नित्य प्रति बढ़ता जाता है। हवा के रुख के अनुसार उनका विभिन्न स्वरूप हो सकता है। प्रायः जिस ओर वायु का रुख होता है उस ओर टीले (Sand Dune) का ढाल बहुत कम होता है और दूसरी ओर अधिक। इस प्रकार के दो रेत के टीलों के बीच में वनस्पति उगने लगती है। रेत के टीले मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—

(१) बेड़ा टीला (Transverse or Barkans)
(२) अनुवृत्तीय टीला (Parabola)
(३) आड़ा टीला (Longitudinal Sand Dune)

१. बेड़ा टीला अथवा बारकंस (Transverse Sand Dune or Barkans)

ये अर्धचन्द्राकार होते हैं। इसके सिरे पवन की दिशा के विरुद्ध होते हैं। इस प्रकार के टीले मरुस्थली और आर्द्र दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में मिलते हैं।

२. अनुवृत्तीय टीला (Parabola)

इस प्रकार के टीले लम्बे और गहरे किये हुए अनुवृत्त होते हैं। इनके सिरे पवन की दिशा में होते हैं। पवन की दिशा में स्थित गर्तों से बालू उड़ कर इन टीलों का निर्माण करती है। इन टीलों पर सदैव वनस्पति का आवरण रहता है। वनस्पति की जड़ों के कारण ये प्रायः स्थायी रहते हैं।

३. आड़ा बालू टीला (Longitudinal Sand Dune)

ये बालू की लम्बी और संकीर्ण ऊँचाइयाँ होती हैं, जो पवन की दिशा के समानान्तर बनी होती हैं। इन ऊँचाइयों के बीच और इनकी ढालों पर वनस्पति उगी रहती है, केवल चोटियाँ वनस्पति रहित होती हैं।

पारिभाषिक शब्दावली की समस्या

भारतीय प्रागितिहास का अध्ययन आज भी अपनी शैशवावस्था में है। यद्यपि गत वर्षों में इस विषय की अभूतपूर्व प्रगति हुई है, तथापि सार्वभौम पारिभाषिक शब्दावली का नितान्त अभाव है। विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले विद्वान् समय-समय पर अपनी इच्छानुकूल तथा आवश्यकतानुसार नवीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। फलतः एक ही वस्तु के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिससे भारतीय प्रागितिहास का अध्ययन और भी जटिल हो गया है। अधिकांश विद्वानों ने प्रायः तीन प्रकार के परिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम प्रकार की शब्दावली यूरोपीय प्रागितिहास की शब्दावली पर आधारित है। तदनुसार सम्पूर्ण पाषाण युग तीन भागों—पूर्व पाषाण काल (Palaeolithic), मध्य पाषाण काल (Mesolithic) तथा नव पाषाण काल (Neolithic)—में विभाजित किया जाता है। पूर्व पाषाण काल का पुनर्विभाजन तीन भागों में करते हैं—निम्न (Lower), मध्य (Middle) तथा उच्च (Upper)।

दूसरी, शब्दावली अफ्रीका के प्रागितिहास से प्रभावित है। इसके अनुसार भारतीय पाषाण युग को प्रारम्भिक पाषाण काल (Early Stone Age), मध्य पाषाण काल (Middle Stone Age) तथा उत्तर पाषाण काल (Late Stone Age) में विभाजित करते हैं। उत्तर पाषाण काल में नूतन युग (Holocene) की सभी पाषाणयुगीन संस्कृतियाँ, जैसे, (१) अज्यामितिक लघुपाषाण उपकरण (Non-geometric Microliths), (२) ताम्र पाषाणयुगीन लघुपाषाण उपकरण (Chalcolithic Microliths) तथा (३) ओपदार पाषाण उपकरण (Polished Stone Tools) की गणना करते हैं।[1]

उपर्युक्त शब्दावलियों के अतिरिक्त एक तीसरी शब्दावली का भी प्रयोग सामान्य है। इसके अनुसार पाषाण युग के विभिन्न विभाजनों को क्रमशः I, II, III तथा IV श्रेणी (Series) में विभाजित करते हैं।

यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि तीनों प्रकार की शब्दावलियों के एक साथ प्रयोग से भ्रम की सम्भावना अधिक है। अतः यह आवश्यक है कि एक सार्वभौम शब्दावली का विकास किया जाय। किन्तु किसी एक शब्दावली को अपनाने से पूर्व विभिन्न शब्दावलियों के शब्दार्थ तथा गुणार्थ को समझना आवश्यक है। इसके लिए उनके विकासात्मक इतिहास का ज्ञान भी वांछनीय है।

---

१. मोहापात्रा, जी० सी०—दी स्टोन एज कल्चर्स आफ उड़ीसा, १९६० (थीसिस) डेकन कालेज, पूना, पृ० १२०, पाद टिप्पणी १।

राबर्ट ब्रूसफूट[1] ने, जिन्हें भारतीय पाषाण युग के अध्ययन का प्रवर्तक माना जाता है, तत्कालीन साक्ष्यों के आधार पर भारतीय पाषाण युग को दो भागों—पूर्व-पाषाण काल (Palaeolithic Age) तथा नव पाषाण काल (Neolithic Age)—में विभाजित किया था।

फूट के पश्चात् कामियाडे तथा बर्किट के समय तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। सन् १९३० में दक्षिण भारत के कर्नूल प्रदेश में उन्हें[2] विभिन्न पाषाण उपकरण उद्योगों की एक शृंखला मिली। इन उपकरणों को उन्होंने चार श्रेणियों में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी में हैण्डएक्स क्लीवर आदि उपकरण, द्वितीय श्रेणी में फलक उपकरणों के साथ विकसित हैण्डएक्स, तृतीय श्रेणी में ब्लेड तथा भुथड़े पार्श्व ब्लेड-ब्यूरिन, स्क्रेपर आदि एवं चतुर्थ श्रेणी में लघुपाषाण उपकरणों को क्रमानुसार श्रेणियों में विभाजित किया। प्रत्येक श्रेणी के उपकरण विशिष्ट स्तरों से सम्बद्ध थे। कामियाडे तथा बर्किट ने इन विभिन्न उद्योगों को वहाँ के वृष्ट्यावर्तनों (Pluvials) तथा वृष्टि-प्रत्यावर्तनों (Inter-pluvials) से भी सम्बन्धित किया। उपकरणों को भौतात्विक कल्पों से सम्बन्धित करने का, भारत में, यह प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इसके बाद भारतीय प्रागितिहास के विकास में दूसरा चरण सन् १९३५-३६ में 'येल कैम्ब्रिज एक्सपेडीशन' (Yale Cambridge Expedition) के आगमन से प्रारम्भ होता है। इसने कश्मीर की घाटी में, रावलपिंडी के निकट दक्षिण-पश्चिमी हिमालय की निचली पहाड़ियों तथा नर्मदा की घाटी में अनुसंधान-कार्य किए। इन स्थानों पर प्राप्त प्रस्तर-उपकरणों को विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित किया तथा मध्य भारत एवं उत्तर-पश्चिम भारत के उपकरणों और स्तरों को सह-सम्बन्धित किया। उन्होंने स्तरीकरण तथा जीवाश्म विज्ञान के आधार पर सोहन तथा मद्रासियन उद्योगों को मध्यप्रातिनूतन (Middle Pleistocene) काल के अन्तर्गत रखा। कालान्तर में सोहन तथा मद्रासियन उद्योगों के लिए निम्न पूर्व-पाषाण उद्योग (Lower Palaeolithic)[3] शब्द का प्रयोग किया गया।

उस समय तक भारत के केवल निम्न पूर्वपाषाणकालीन संस्कृति के सम्बन्ध में ही ज्ञात था, किन्तु समय-समय पर विभिन्न स्थानों से एक विशिष्ट प्रकार का उद्योग, जिसमें स्पष्ट लेवालेवा (Levalloisian) प्रभाव था, प्रकाश में आ रहा था। बर्किट तथा कामियाडे ने कर्नूल में,[4] टॉड ने बम्बई और खाण्डिवली[5] में, डीटेरा एवं पेटरसन ने पंजाब में जिसे अन्त सोहन[6] (Late Soan)

---

१. ब्रूस, आर० फूट—दी फूट कलेक्शन आफ इण्डियन प्रीहिस्टारिक एण्ड प्रोटोहिस्टारिक ऐण्टीक्युटीज, १९१४, मद्रास।
२. बर्किट, एम० सी० एण्ड कामियाडे, एल० ए०—'फ्रेश लाइट आन दी स्टोन एज इन साउथ ईस्ट इण्डिया' ऐण्टीक्यूटी IV।
३. सेन, डी०—'लोअर पेलियोलिथिक कल्चर काम्प्लेक्स एण्ड क्रोनोलाजी इन इण्डिया' प्रेसिडेंशियल ऐड्रेस, आर्क्योलजी एण्ड एन्थ्रोपौलजी सेक्शन, इण्डियन साइंस कांग्रेस, १९५६।
४. बर्किट, एम० सी० तथा कामियाडे, एल० ए०—पाश्वोद्धरित, १९३०, पृ० ३२८।
५. टॉड, के० आर० यू०—'पेलियोलिथिक इण्डस्ट्रीज आफ बाम्बे', जे० आर० ए० आई०, वाल्यूम LIX, १९३९।
६. डीटेरा तथा पेटरसन, टी० टी०—स्टडीज आन दि आइस एजेज इन इण्डिया एण्ड एशोसिएटेड ह्यूमन कल्चर। कार्नेगी, इंस० वाशिंगटन पब्लिकेशन नं० ४९३, १९३९।

और नर्मदा की काली मिट्टी में प्राप्त उद्योग को आद्य-नवपाषाणयुगीन (Proto-neolithic)[१] कहा है, वे इसी उद्योग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इस उद्योग की स्थिति तथा स्तर का वास्तविक ज्ञान संकालिया के नेवासा[२] के अनुसंधान के बाद हुआ। नेवासा में उन्हें प्रवरा नदी के स्तरित जमावों में क्रमशः तीन प्रस्तर-उद्योग मिले। इन उद्योगों को उन्होंने तीन श्रेणियों—क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय—में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी के उपकरणों में हैण्डएक्स-क्लीवर परिवार के उपकरणों की गणना की गई। ये मध्य-प्रातिनूतन काल में (Middle Pleistocene Period) अर्थात् हैण्डएक्स के बॉस-नेमाडिकस। (Bos Namadicus) के जीवाश्मों के साथ प्राप्त हुए थे। वे प्रवरा नदी के प्रथम उच्चयन काल (First Aggradational Phase) से सम्बन्धित थे। नदी के द्वितीय उच्चयन काल के स्तर से, जो प्रथम जमाव पर आधारित था तथा लघुपाषाण उद्योग के स्तर के नीचे था, एक बिलकुल ही नवीन उद्योग, जिसमें फलक-उद्योग के स्क्रेपर, अस्त्राग्र (Points) आदि थे, प्रकाश में आया। संकालिया ने इस उद्योग को द्वितीय श्रेणी में रखा। इसकी मध्यस्थिति के कारण इसे मध्य-पूर्वपाषाणकालीन[३] (Middle Palaeolithic) कहा गया। बैनर्जी ने इसी उद्योग को नेवासियन[४] (Nevasian) की संज्ञा प्रदान की। उस समय से इस प्रकार के प्रस्तर-उपकरणों को मध्य-पूर्वपाषाणकालीन[५], अथवा मध्य पाषाणयुगीन[६] अथवा ब्लेड-फलक-स्क्रेपर[७] उद्योग की संज्ञा प्रदान की गई। तृतीय श्रेणी में उन्होंने लघुपाषाण उपकरणों को रखा।

नेवासा अथवा अन्य किसी भी स्थान पर उस समय तक उच्च-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग (Upper Palaeolithic) के साक्ष्य नहीं मिले थे। अतः विद्वानों की धारणा हुई कि भारत में पाषाण-कालीन संस्कृति का विकास यूरोप से भिन्न हुआ होगा। चूँकि अफ्रीका में भी यूरोप के समान उच्च-पूर्वपाषाण उद्योग का विकास नहीं हुआ था, अतएव अनुमान किया गया कि भारत में भी विकास अफ्रीका के ही समान हुआ होगा। इसको ध्यान में रखकर सुब्बाराव ने सुझाव दिया कि भारत में

---

१. डीटेरा तथा पेटरसन—वही, पृ० ३१९-२०।

२. संकालिया, एच० डी०—'एनीमल फ़ॉसिल एण्ड पेलिओलिथिक इण्डस्ट्रीज फ्राम दि प्रवरा बेसिन एट नेवासा, डिस्ट्रिक्ट अहमदनगर, ए० इ० नं० १२, १९५६, पृ० ३५-५२।

३. संकालिया, एच० डी०; देव, एस० बी० आदि—फ्राम हिस्ट्री टू प्रीहिस्ट्री एट नेवासा, १९६०।

४. बैनर्जी, के० डी०—मिडिल पेलियोलिथिक इण्डस्ट्रीज आफ दि डेक्कन (थीसिस), डेकन कालेज, पूना, १९५७।

५. संकालिया, एच० डी० आदि—पार्श्वोद्धरित, १९६०। आइजक, एन०—स्टोन एज कल्चर्स आफ कर्नूल (थीसिस), डेकन कालेज, पूना, १९६०। मिश्रा, वी० एन०—स्टोन एज कल्चर्स आफ राजपुताना, (थीसिस), डेकन कालेज पूना, १९६१।

६. सुब्बाराव, बी०—पर्सोनेलटी आफ इण्डिया, १९५८। अलचिन बी०—'दी इण्डियन मिडिल स्टोन एज,' बी० एल० यू० आई० ए० नं० ११, १९५९, पृ० १-३६। मोहापात्रा, जी० सी०—पार्श्वोद्धरित, १९६०।

७. मलिक, एस० सी०—'स्टोन एज इण्डस्ट्रीज आफ दी बाम्बे एण्ड सतारा डिस्ट्रिक्ट' एम० एस० यूनिवर्सिटी आर्क०, सिरीज नं० ४, बड़ौदा, १९५९।

पाषाण युग का विभाजन यूरोप के समान न कर के अफ्रीका के अनुसार करना चाहिए। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने यह तर्क भी प्रस्तुत किया कि यूरोप में पूर्वपाषाण काल के उपविभागों—निम्न, मध्य तथा उच्च-पूर्वपाषाण कालों—का विभाजन विभिन्न स्तरों में प्राप्त जीवाश्मों[1] के साक्ष्यों पर आधारित है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक विभाजन उद्योग के साथ ही साथ भौतात्विक कल्पों का भी द्योतन करता है। किन्तु, भारत में स्थिति इससे नितान्त भिन्न है। यहाँ इस प्रकार के विभाजन के लिए प्रमाणों का सर्वथा अभाव है। अपने प्रथम तर्क की पुष्टि में उन्होंने इस सम्भावना की भी कल्पना की, कि, यहाँ भी अफ्रीका के समान लघुपाषाण उद्योग (Microlithic Industry) का विकास लेवालेवा (Levalloisian) फलक उद्योगों से ही हुआ होगा, क्योंकि मध्यपाषाणकालीन उद्योग तथा लघुपाषाण उद्योग के मध्यवर्ती उच्च-पाषाणकालीन उद्योगों का विकास यहाँ नहीं मिलता। उन्हें भारत तथा अफ्रीका के मध्यपाषाणकालीन उद्योगों में भी बहुत समता प्रतीत हुई। इन सभी को दृष्टि में रख कर उन्होंने सुझाव दिया कि निम्न-पूर्वपाषाण काल (Lower Palaeolithic Period) के लिए प्रारम्भिक पाषाण काल (Early Stone Age), मध्य-पूर्व-पाषाण काल (Middle Palaeolithic Period) के लिए मध्यपाषाण काल (Middle Stone Age) तथा मेसोलिथिक (Mesolithic) के लिए उत्तरपाषाण काल (Late Stone Age) का प्रयोग करना चाहिए।[2]

दिसम्बर, १९६१ में दिल्ली में हुई आर्क्यालजी की प्रथम एशियन कांग्रेस ने सुब्बाराव द्वारा प्रतिपादित शब्दावली को अपनाने का सुझाव मान लिया। फलतः, अनेक कठिनाइयों के होने के बावजूद भी इसका प्रयोग सामान्यतः होने लगा। यद्यपि यह शब्दावली गत आठ-नौ वर्षों से प्रयोग में है, किन्तु आज भी इसका गुणार्थ तथा वस्त्वर्थ निश्चित नहीं है। यह आज भी स्पष्ट नहीं है कि मध्यपाषाण काल तथा उत्तरपाषाण काल के अन्तर्गत कौन-कौन से उद्योग हैं। इधर गत कुछ वर्षों में बहुत से इस प्रकार के उद्योग (Industries) प्रकाश में आए हैं, जिनके सम्बन्ध में इससे पूर्व बहुत कम ज्ञात था। तकनीकी दृष्टिकोण से एवं स्तरीकरण के आधार पर इन उद्योगों को मध्यपाषाण काल तथा उत्तरपाषाण काल के बीच में रखा जा सकता है। इन सभी उद्योगों में ब्लेड-तत्त्व की प्रधानता है। सुब्बाराव द्वारा प्रतिपादित शब्दावली में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि इनको कहाँ रखना चाहिए ? इसके अतिरिक्त उपर्युक्त शब्दावली में नवपाषाण युग के लिए भी कोई स्थान नहीं था। इस दृष्टिकोण से शब्दावली की समस्या का निराकरण करना आवश्यक हो जाता है।

इस स्थान पर, उपलब्ध साक्ष्यों को ध्यान में रख कर, उन सभी तर्कों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है, जो यूरोपीय शब्दावली के विरुद्ध प्रस्तुत किए गए थे तथा जिनके कारण नवीन शब्दावली के प्रयोग की आवश्यकता समझी गई थी। सारांश में, तीन प्रमुख कठिनाइयाँ प्रस्तुत की गई थीं। प्रथम, यूरोपियन शब्दावली के निम्न, मध्य तथा उच्च-पूर्वपाषाण कालों के विभाजन जीवाश्मों के साक्ष्यों पर आधारित हैं और भौतात्विक कल्पों के भी द्योतक हैं। दूसरा, उच्च-पूर्वपाषाण काल भारत में नहीं हुआ। तीसरा, मध्यपाषाणकालीन लेवालेवा उद्योग ही क्रमशः लघुपाषाण उद्योग में परिवर्तित हो गया, जैसा कि अफ्रीका में हुआ है। वास्तव में, तीसरा तर्क दूसरे पर ही आधारित है।

---

१. डैनियल, जी० ई०—हण्डरेड ईयर्स आफ आर्क्यालजी, १९५०, पृ० १४२।

२. सुब्बाराव, बी०—पाश्वोंद्धरित १९५८, पृ० ३९।

मिश्रा[१] ने प्रथम कठिनाई के समाधान के लिए सुझाव दिया कि यदि इन शब्दों का प्रयोग "केवल सांस्कृतिक तथा तकनीकी अर्थ में किया जाए, तो तिथि सम्बन्धी कठिनाई का समाधान स्वतः हो जायेगा।" गोर्डन, ओकले तथा मोवियस आदि विद्वान् इन शब्दों का प्रयोग सांस्कृतिक तथा तकनीकी अर्थों में ही करते रहे हैं। भारत में अबेवीलियन, आशूलियन, क्लेक्टोनियन तथा लेवालेवा का प्रयोग सांस्कृतिक एवं तकनीकी अर्थों में ही किया जाता है। किन्तु यूरोप में इनका प्रयोग तिथि के सन्दर्भ में भी होता है। यदि इन्हीं शब्दों के समान निम्न, मध्य तथा उच्च-पूर्वपाषाण उद्योग आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जावे तो क्या हानि है ?

दूसरी कठिनाई के लिए भी मिश्रा का सुझाव[२] विचारणीय था कि, 'उच्च-पूर्वपाषाण काल की स्थिति के सम्बन्ध में कोई भी निष्कर्ष निकालना (उस समय) अपरिपक्व है'। बाद में हुए अनुसन्धानों ने इस बात की पुष्टि की है। अभी हाल में ब्लेड-ब्यूरिन उपकरण अनेक स्थानों से मिले हैं। ब्लेड की स्तरीय स्थिति पूर्ववर्ती तथा परवर्ती उद्योगों के सन्दर्भ में एकदम वैसी ही है जैसी की यूरोप के उच्च-पाषाणकालीन स्तरों की। अन्तर मात्र इतना है कि यूरोप में पूर्व-पाषाणकालीन सभी संस्कृतियाँ प्रातिनूतन काल (Pleistocene) के अन्तर्गत आती हैं। किन्तु भारत के उच्च-पूर्वपाषाणकालीन ब्लेड उद्योग को प्रातिनूतन काल के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। भारत में इसकी तिथि प्रातिनूतन काल का अन्त तथा नूतन काल का प्रारम्भ होना चाहिए। अहमदनगर में मूला नदी के तट पर बड़े गाँव से उपलब्ध सामग्री इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। वहाँ पर बालू तथा गादमिट्टी (Silt) के एक जमाव से दो जीवाश्म, एक बॉस नमाडिकस फाल्क (Bos Namadicus Falc) तथा दूसरा ब्यूबेलस ब्यूबेलिस (Bubalus Bubalis) के प्राप्त हुए थे। इस जमाव के ऊपर के भाग से मध्य-पूर्वपाषाण युग के उपकरण मिले। इन पशुओं के जीवाश्मों से सम्बन्धित अधजले टर्मिनेलिया अर्जुना (Semi-carbonised Terminelia Arjuna) के टुकड़े भी प्राप्त हुए थे। कार्बन १४ (c.14) तिथि विधि के अनुसार उनकी तिथि ३३,००० वर्ष निर्धारित की गई है। इसके अनुसार मध्य-पूर्वपाषाण युग का विस्तार उच्च-प्रातिनूतन काल (Upper-pleistocene Period) तक था, अतः यहाँ पर उच्च-पूर्वपाषाण काल की तिथि और बाद में होनी चाहिए। उच्च-पूर्वपाषाणकालीन ब्लेड तथा ब्यूरिन के समान उपकरण चित्तूर जिले से रल्लकलावा (Rallakalava) नदी तथा मदनपल्ले (Madanpalle) से प्राप्त हुए हैं। वहाँ पर यह उद्योग नदी के प्रथम उच्चयन वेदिका (First Aggradational Terrace) से सम्बन्धित है तथा बालू के साथ मिला है। बालू का जमाव संभवतः तृतीय आर्द्रकाल (Third Humid Phase) के बाद उप-आर्द्रकाल (Sub-humid) में हुआ था। तृतीय आर्द्रकाल में द्वितीय ग्रैवेल का जमाव हुआ, जिसके साथ मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग सम्बन्धित किया जाता है। तृतीय आर्द्रकाल उच्च-प्रातिनूतन काल के अन्तर्गत हुआ तथा इसका उप-आर्द्र काल (Sub-humid Phase), जो अल्पकालिक था उच्च-प्रातिनूतन काल के बाद हुआ। इसे प्रातिनूतन काल के अन्त अथवा प्रारम्भिक नूतनकाल के अन्तर्गत रखा जा सकता है।[३]

---

१. मिश्रा, वी० एन०—'प्रोब्लेम् एण्ड टर्मिनोलजी आफ़ ऐटसेटरा', ई० एं० वाल्यूम न० २, मई-अगस्त, १९६२, पृ० ११८।

२. मिश्रा, वी० एन०—वही, पृ० १२०।

३. मूर्ति, एम० एल० के०—स्टोन एज कल्चर्स आफ चित्तूर, (थीसिस), डेकन कालेज, पूना, १९६६, पृ० १७०।

इसी प्रकार का ब्लेड तथा ब्यूरिन उद्योग मैसूर प्रदेश के गुलबर्ग जिले के शोरापुर दोआब से भी तत्सदृश स्तर से मिला। वहाँ यह उद्योग काली-भूरी मिट्टी (Black-brown Silt) से सम्बन्धित है। चूँकि यह जमाव मध्य-पूर्वपाषाणयुगीन स्तर के ग्रैवल के ऊपर है अथवा उस पर आधारित है, अतः इसका निर्माण निश्चित रूप से प्रातिनूतन काल के बाद (Post-pleistocene) अर्थात् नूतन काल में हुआ होगा, क्योंकि मध्य-पूर्वपाषाण युग प्रातिनूतन काल के अन्त तक माना जाता है। इस आधार पर ब्लेड उद्योग को नूतन काल के अन्तर्गत तथा उत्तरपाषाण उद्योग को उसके और बाद रखेंगे।[1]

सेन तथा घोष ने भी इसी प्रकार के ब्लेड उद्योग की प्राप्ति की घोषणा नर्मदा की सहायक नदी बामेर से की है।[2] यहाँ पर भी यह उद्योग मध्य-पूर्वपाषाण युग के बाद का एवं लघुपाषाण उद्योग से पूर्व-कालिक घोषित किया गया है। ब्लेड-ब्यूरिन उपकरण ऐसे जमाव में मिले हैं, जिसके अधोभाग से मध्य-पूर्वपाषाणकालीन तथा ऊपर के भाग से लघुपाषाण उपकरण मिलते हैं। इस ग्रैवेल जमाव के ऊपर पीली मिट्टी का जमाव है। इन दोनों जमावों को डीटेरा तथा पेटरसन के काटन स्वायल ग्रुप (Cotton Soil Group) से सह-सम्बन्धित किया गया है।

उच्च-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग के सम्बन्ध में इसी प्रकार के प्रमाण इलाहाबाद जिले के मेजा तहसील में, बेलन नदी के किनारे, खजुरी ग्राम के निकटवर्ती प्रदेश के, स्तरित जमावों से भी प्राप्त हुए हैं।[3] यहाँ भी ब्लेड उद्योग मध्य-पूर्वपाषाणयुगीन उद्योग के बाद तथा लघुपाषाण उद्योग के पहले के जमाव से प्राप्त हुए हैं। जिस स्तर से मध्य-पूर्वपाषाणयुगीन उपकरण प्राप्त हुए हैं उसे अथवा द्वितीय ग्रैवेल को उच्च-प्रातिनूतन काल (Upper-pleistocene Period) में रखा जा सकता है। ऐसी स्थति में उच्च-पूर्वपाषाण-कालीन (Upper Palaeolithic) ब्लेड उपकरणों को उच्च-प्रातिनूतन काल के अन्त अथवा नूतन काल के प्रारम्भ में रखा जा सकता है।

उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त भी अनेक स्थलों से इस प्रकार के उद्योग की प्राप्ति की घोषणा हो चुकी है। अब इस साक्ष्य को ध्यान में रख कर यह कहना कठिन है कि भारत में यूरोप के समान, उच्च-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग का विकास नहीं हुआ था। यह भिन्न बात है कि स्थानीय प्रभावों के कारण इनमें स्थानीय विशेषताओं का समावेश हो गया हो। कुछ भी हो, इस उद्योग की प्राप्ति से सुब्बाराव के कथन की सार्थकता अप्रमाणित हो जाती है।

सुब्बाराव का तीसरा तर्क उनके द्वितीय तर्क पर ही विशेषतः आधारित था। यह सम्भावना कि भारत में लघुपाषाण उद्योग का विकास मध्य-पूर्वपाषाणकालीन लेवालेवा फलक उद्योग से हुआ है, इस तर्क पर आधारित थी कि भारत में उच्च-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग का विकास नहीं हुआ। किन्तु

---

१. पद्दैया, के०—प्री एण्ड प्रोटो हिस्टारिक इनवेस्टिगेशंस इन शोरापुर दोआब (थीसिस), डेकन कालेज, पूना १९६८, पृ० ३९।

२. सेन, डी० एण्ड घोष, एं० के०—'लिथिक कल्चर-काम्पलेक्स इन दी प्लायस्टोसीन सीक्वेंस आफ दी नर्मदा वेली', रिविस्टा दी साइन्ज प्रीहिस्टार्श, वाल्यूम XVIII, १९६३।

३. एक्सप्लोरेशन इन डिस्ट्रिक्ट इलाहाबाद, मिर्जापुर एण्ड शाहजहाँपुर—इण्डियन आर्क्यालजी—ए रिव्यू, १९६६-६७ (प्रेस में)।

इस सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि इस मत के लिए अब कोई भी प्रमाण नहीं है कि भारत में उच्च-पूर्व-पाषाण काल का आविर्भाव नहीं हुआ था। इस विषय में यह विशेष उल्लेखनीय है कि इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के इंस्टीट्यूट आफ आर्क्यालजी के अनुसन्धानों के द्वारा अनेक ऐसे स्थान प्रकाश में आये हैं, जहाँ से ऐसे उद्योगों के उपकरण प्राप्त हुए हैं; जिन्हें तकनीक तथा प्रकारात्मक (Typology) आधार पर उच्च-पूर्वपाषाण काल के उपकरणों के बाद तथा लघुपाषाण उपकरणों के पहले रखा जा सकता है।[1] इस उद्योग के उपकरणों में अनगढ़ित अथवा पुनर्गठित ब्लेड तथा विभिन्न प्रकार के स्क्रेपरों की गणना की जाती है। इसके ब्लेड लघुपाषाण उद्योग के ब्लेड से अधिक मोटे तथा बड़े हैं तथा उन्हें किसी भी दशा में लघुपाषाण उद्योगों के साथ नहीं रखा जा सकता है। साथ-ही-साथ उनको उच्च-पूर्वपाषाण-कालीन ब्लेड परम्परा के साथ भी नहीं रख सकते हैं। उनको देखने मात्र से स्पष्ट हो जाता है कि वे उच्च-पूर्वपाषाणकालीन ब्लेड परम्परा से प्रभावित हैं। इसी प्रकार के ब्लेड, बेलन के स्तरित जमाव से, लघुपाषाण उद्योग के पूर्ववर्ती स्तर से भी प्राप्त हुए हैं। इनसे सिद्ध होता है कि भारत के लघुपाषाण उद्योग का विकास उच्च-पूर्वपाषाण उद्योग से हुआ है।

उच्च-पूर्वपाषाणकालीन प्रस्तर उद्योग के बाद जो लघुपाषाण उद्योग के उपकरण मिलते हैं वे भी प्रकारात्मक दृष्टिकोण से यूरोप[2] के उत्तर पाषाणकालीन (मेसोलिथिक) लघुपाषाण उपकरणों के बहुत समीप हैं। मिर्जापुर के मोरहना पहाड़ तथा बघहीखोर[3] में हुए उत्खनन इस दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ के उत्खनन में लघुपाषाण उद्योग में एक विकासात्मक क्रम मिलता है। स्तर तथा प्रकार के साक्ष्य पर यहाँ लघुपाषाण उपकरणों को दो प्रमुख विभागों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—अज्यामितिक उपकरण।

२—ज्यामितिक उपकरण।

यहाँ के उत्खनन से प्राप्त तथ्यों को लेखहिया[4] शिलाश्रय एवं निकटवर्ती स्थानों में हुए उत्खननों ने सभी दृष्टिकोण से पुष्ट किया। वहाँ भी लगभग वही विकासात्मक क्रम मिला है, जो पहले मोरहना पहाण तथा लेखहिया में प्राप्त हुआ था। भारत में हुए उत्खननों के आधार पर यहाँ के लघुपाषाण उद्योग को नूतन काल के प्रारम्भ में अथवा उसके प्रारम्भ के थोड़ा बाद रख सकते हैं। यूरोप में भी लघुपाषाण उपकरणों का विकास इसी प्रकार से हुआ है और दोनों में बहुत साम्य भी है। अन्तर मात्र इतना है कि वहाँ पर उनका प्रारम्भ नूतन काल से होता है और यहाँ पर उसके थोड़ा बाद। चूँकि भारत के लघु पाषाण उद्योगों का विकास भी यूरोप के ही समान हुआ है, अतः यदि इन्हें हम यहाँ भी मेसोलिथिक अथवा उत्तरपाषाण काल के अन्तर्गत रखें, तो अनुचित नहीं होगा।

भारतीय प्रागितिहास के विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रागितिहास की शब्दावली पर प्रस्तुत साक्ष्यों के आधार पर पुनर्विचार करके उपयुक्त परिवर्तन करना चाहिए। चूँकि भारत में प्रागै-

---

१. ऐसे स्थानों में एक स्थान मिर्जापुर में लेखहिया शिलाश्रय के निकट तथा बनारस की चकिया तहसील में बैरा-दो-मुहवा, रीवा में कोरिया आदि की गणना की जा सकती है।

२. वर्मा, आर० के०—पार्श्वोद्धरित, १९६५ पृ० ३२९-४५०।

३. मिश्रा वी० एन०, आदि (सम्पादित)—प्री-हिस्ट्री-६४, डेकन कालेज, पूना, में वर्मा, आर० के० पृ० ७३-७५।

४. मिश्रा वी० एन० आदि—वही, पृ० ७७-७९।

तिहासिक उद्योगों का विकास भी मूलतः यूरोप के ही समान हुआ है; अतः यूरोपियन पारिभाषिक शब्दावली—पूर्व पाषाण काल, उत्तर पाषाण काल तथा नव पाषाण काल—को अपनाना अनुचित नहीं होगा। सुविधा के दृष्टिकोण से प्रस्तुत पुस्तक में स्थान-स्थान पर दोनों ही प्रकार की शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है।

उपकरण-निर्माण प्रविधियाँ

पाषाण उपकरणों का निर्माण आदि मानव के जीवन का सबसे क्रान्तिकारी अन्वेषण था। यह उसकी प्रकृति पर सर्वप्रथम विजय थी। शारीरिक बल में सभी पशुओं से निर्बल होने पर भी, इन अशरीरी अवयवों द्वारा ही, वह अपने से अधिक विशालकाय तथा शक्तिशाली जीवों से, अपनी सुरक्षा करने में केवल समर्थ ही न रहा, अपितु उन पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सका। निश्चय ही, उसने उपकरण निर्माण के लिए पत्थरों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं जैसे, हड्डी तथा लकड़ी का भी उपयोग किया होगा, किन्तु दोनों ही अपेक्षाकृत अल्प-स्थायी तथा नाशवान हैं, अतः इन वस्तुओं के उपकरण प्रायः नहीं मिलते हैं। इसलिए प्रस्तर-उपकरणों का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। इन उपकरणों का अध्ययन करने से पूर्व विभिन्न प्रकार के पत्थरों के सम्बन्ध में जानना आवश्यक होगा। पत्थरों को साधारणतः तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया जाता है—

१—आग्नेय चट्टान (Igneous Rock)
२—स्तरित चट्टान (Sedimentary Rock)
३—परिवर्तित चट्टान (Metamorphic Rock)

१. आग्नेय चट्टान (Igneous Rock)

इसका नामकरण लैटिन के 'इगनिस (Ignis) अग्नि' से किया गया है। ये 'अग्नि-निर्मित' पत्थर प्रारम्भ में अत्यधिक ताप के कारण तरल अवस्था में थे, जिन्हें द्रव-पदार्थ (Magma) कहते हैं। किन्तु बाद में क्रमशः ठण्डे होने पर ये ठोस पत्थर का स्वरूप धारण करते हैं। ज्वालामुखी के लावा से बने सभी पत्थर इसी प्रकार के हैं। पृथ्वी के धरातल के नीचे, अपेक्षाकृत किसी ठण्डे स्थान में प्रवेश करने के कारण, जमे हुए द्रव-पदार्थ (Magma) को अन्तर्निमित चट्टान (Intrusive Rock) कहते हैं। जब द्रव-पदार्थ पृथ्वी के धरातल पर आकर जमता है तब उसे बहिर्निमित चट्टान (Extrusive Rock) कहते हैं। अन्य सभी प्रकार के पत्थरों का निर्माण इन्हीं आग्नेय चट्टानों से होता है, अतः इन्हें सभी प्रकार के पत्थरों का स्रोत कहना अनुपयुक्त नहीं होगा।

आग्नेय पत्थरों का वर्गीकरण उनके कणों की संरचना (Texture)—रुक्ष-कणीय (Coarse-grained) सूक्ष्म-कणीय (Fine-grained), कांचसदृश (Glassy) तथा पॉर्फ़िराइटी (Porphyritic) और खनिज पदार्थों (Minerals) के योग के आधार—पर किया जाता है। तरल लावा जब बहुत शीघ्रता से ठण्डा होता है तब वह कांच के समान अथवा सूक्ष्म कण का होता है। जब धीरे-धीरे ठण्डा होता है

तब कण रुक्ष होते हैं। पॉर्फिराइटी प्रकार के आग्नेय पत्थर का निर्माण उस समय होता है जब धीरे-धीरे ठण्डा होता हुआ लावा एकाएक ठण्डा हो जाता है। इस प्रकार के पत्थर में दो प्रकार के कण—छोटे और बड़े—होते हैं। इस तरह एक ही प्रकार का लावा विभिन्न प्रकार से ठण्डा होने के कारण विभिन्न स्वरूपों को धारण करता है। प्रायः पृथ्वी के धरातल के नीचे ठण्डा होने वाला द्रव-पदार्थ रुक्ष-कण का होता है, क्योंकि धरातल के नीचे वह धीरे-धीरे ठण्डा होता है। आग्नेय पत्थरों का वर्गीकरण रंग (Colour) तथा घनत्व (Density) के आधार पर भी किया जाता है। प्रायः कम घनत्व के पत्थर का रंग हलका और अधिक घनत्व के पत्थर का रंग गहरा होता है। बीच के घनत्व के पत्थरों का रंग भी बीच का होता है।

हल्के रंग के आग्यनेय पत्थर में प्रमुख ग्रेनाइट (Granite), रायोलाइट (Rhyolite) तथा ऑब्सीडियन (Obsidian) होते हैं। ग्रेनाइट रुक्ष-कण का, रायोलाइट सूक्ष्म-कण का और ऑब्सीडियन कांच के सदृश होता है। देखने में ऑब्सीडियन एकदम काला दृष्टिगोचर होता है। किन्तु उसको पीसकर यदि पाउडर बना दें तो वह हल्के रंग का लगता है।

गहरे रंग के आग्नेय पत्थरों में बेसाल्ट (Basalt) जिसे ट्रैप (Trap) भी कहते हैं, गैब्रो (Gabro) तथा पेरीडोटाइट (Peridotite) आदि हैं। बेसाल्ट सूक्ष्म-कण का होता है। रुक्ष-कण वाले बेसाल्ट के समान पत्थर गैब्रो है।

मध्यवर्गी आग्नेय पत्थरों में ऐण्डेज़ाइट (Andesite) तथा डाइओराइट (Diorite) की गणना की जा सकती है। ऐण्डेज़ाइट सूक्ष्म कण का होता है। वह ग्रेनाइट तथा बेसाल्ट के बीच का होता है। डाइओराइट रुक्ष कण का होता है।

स्तरित चट्टान (Sedimentary Rock)

स्तरित चट्टानों का निर्माण आग्नेय चट्टानों के क्षरण से प्रारम्भ होता है। जल तथा वायु के निरन्तर सम्पर्क से इनका क्रमशः क्षरण होता रहता है। क्षरण प्रमुखतः दो प्रकार का होता है—क्रियात्मक अथवा चूर्णीकरण (Machenical) तथा रसायनिक (Chemical)। इस प्रकार के क्षरण में कण, वायु तथा जल के सम्पर्क से, घिसकर छोटे होते जाते हैं। दूसरे प्रकार के क्षरण से कणों में रसायनिक परिवर्तन होता रहता है। स्तरित आग्नेय पत्थरों के कणों से स्तरित चट्टानों का निर्माण होता है। हिम-नदी, नदी, नाले, सागर तथा वायु सभी अपने-अपने स्थान पर स्वानुकूल क्षरित सामग्री को जमाते रहते हैं, जो कालान्तर में पत्थर का स्वरूप धारण कर लेते हैं। बालू तथा ग्रैवल एक-दूसरे से जुड़कर पत्थर बन जाते हैं। महीन मिट्टी का कीचड़ भी ऊपरी भार के कारण दब कर पत्थर का स्वरूप धारण कर लेती है—

स्तरित चट्टान का निर्माण कणों के क्रमशः जमाव के कारण होता है, अतः इस प्रकार के पत्थर प्रायः स्तरित होते हैं। इसके विभिन्न पर्तों को अलग-अलग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तरंग चिह्न (Ripple-marks) पंक-दरार (Mud crack) जीवाश्मों (fossils) की उपस्थिति आदि भी इसकी कुछ विशेषताएँ होती हैं।

परिवर्तित चट्टान (metamorphic Rock)

परिवर्तित चट्टान विभिन्न प्रकार की होती हैं तथा इनका निर्माण किसी भी आग्नेय अथवा स्तरित चट्टानों से हो सकता है। प्रायः सभी परिवर्तित चट्टानों का निर्माण पृथ्वी के धरातल के नीचे

ही होता है। इसका निर्माण तापमान में परिवर्तन, दबाव तथा वातावरण में रसायनिक परिवर्तनों के कारण होता है। ये वे ही कारण हैं, जिनसे पत्थर के जमाव में वलन (Fold), भ्रंश (Foult) आदि हो जाते हैं। पत्थरों में परिवर्तन उसी समय सम्भव है, जब पत्थर ठोस अवस्था में होता है। तरल अवस्था में होने पर उसमें आग्नेय प्रकार की प्रक्रियाएँ होने लगती हैं। इस प्रकार के पत्थरों में जिसमें केवल एक ही खनिज पदार्थ होता है, उसे एक खनिजीय (Monomineralic) कहते हैं। इनमें संगमर्मर (Marble) तथा स्फटिक (Quartz) की गणना की जाती है। किन्तु अधिकांश पत्थरों में एक से अधिक खनिज पदार्थ होते हैं। परिवर्तित चट्टानों में शिलापट्ट (Slate), फाइलाइट (Phylite), शिस्ट (Schist), संगमर्मर (Marble), स्फटिक (Quartz) आदि की गणना की जाती है।

परिवर्तित चट्टान अन्य चट्टानों से अपेक्षाकृत कमजोर होती है और अनियमित प्रकार से टूटती हैं, अतः ये उपकरणों को बनाने के लिए उपयोगी नहीं होती हैं। प्रायः आग्नेय तथा स्तरित पत्थर ही उपकरण बनाने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इनमें से भी प्रागैतिहासिक मानव ने विशेषतः उन्हीं पत्थरों को चुना, जो अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म कण के तथा कड़े होते थे। चूंकि इस प्रकार के पत्थर नियमित रूप से टूटते हैं, अतः उपकरण बनाने के दृष्टिकोण से अधिक उपयोगी होते थे। जहाँ सिलिकामय चट्टान (Siliceous Rock) तथा खनिज पदार्थ जिनमें फ्लिण्ट (Flint), चर्ट (Chert), ऑब्सीडियन (Obsidian) आदि की गणना की जाती है—उपलब्ध थे, वहाँ पर निम्न-पूर्वपाषाणयुगीन (Lower Palaeo-lithic) मानव ने इन्हीं को उपकरण बनाने के लिए प्रयोग किया। किन्तु इनके अतिरिक्त स्फटिकाश्म (Quartzite), अच्छे प्रकार के सिकताश्म (Sand Stone), डोलराइट (Dolerite), ओपल (Opal), जैस्पर (Jasper) तथा चर्टी-फ्लिण्ट (Cherty-Flint) या फ्लिण्टी-चर्ट (Flinty chert) का प्रयोग उपकरण बनाने के लिए बहुतायत से किया गया है। भारत में पूर्व पाषाण युग के उपकरण अधिकांशतया स्फटिकाश्म मिलते हैं। किन्तु, इसके अतिरिक्त, अन्य प्रकार के पत्थरों का भी उपयोग मिलता है। जिन स्थानों में अच्छे, सूक्ष्म कणों के पत्थर उपलब्ध नहीं थे वहाँ पर साधारण प्रकार के पत्थर जैसे स्फटिक का भी उपयोग किया जाता था। इसी तरह जिन स्थानों में अच्छे प्रकार के पत्थर जैसे जैस्पर आदि सुलभ थे वहाँ पूर्व पाषाण काल में भी उनका उपयोग किया गया है।

मध्य-पूर्वपाषाणकालीन (Middle Palaeolithic) तथा उच्च-पूर्वपाषाणकालीन (Upper-Palaeolithic) मानव ने निम्न-पूर्वपाषाणकालीन (Lower Palaelolithic) मानव की अपेक्षा उपकरण-निर्माण के लिए पत्थरों के चयन में अधिक सजगता का परिचय दिया। मध्य-पूर्वपाषाण काल में अधिकांशतया केवल बहुत सूक्ष्म कणों (Fine Grained) के कड़े (Hard) तथा समांग (Homogenous) पत्थरों का ही प्रयोग मिलता है, किन्तु जहाँ इस प्रकार के पत्थर उपलब्ध नहीं थे वहाँ सामान्य पत्थरों का भी प्रयोग किया गया है। इस युग के अधिकांश उपकरण फ्लिण्ट-चर्ट, फ्लिण्टी चर्ट, चर्टी-फ्लिण्ट, जैस्पर, ओपल, पिच स्टोन (Pitch Stone) तथा इसी भाँति के अन्य पत्थरों के मिलते हैं, किन्तु जिन स्थानों में इस प्रकार के पत्थर उपलब्ध नहीं थे वहाँ इनसे घटिया किस्म के पत्थरों का भी प्रयोग हुआ है। बहुत से स्थानों में स्फटिकाश्म का प्रयोग मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उपकरणों के निर्माण के लिए किया गया है।

उत्तरपाषाणकालीन (Mesolithic or Late Stone Age) मानव पत्थरों के सम्बन्ध में सबसे अधिक चयनशील था। लघुपाषाण उपकरणों (Microliths) का निर्माण घटिया किस्म के पत्थरों

से सम्भव नहीं था, अतः इस युग में अधिकांशतया उपरत्नों (Semi-precious Stones) का ही प्रयोग किया गया। सिकताश्म एवं स्फटिकाश्म के उपकरण इस युग में नहीं मिलते हैं। फ्लिण्ट तथा चर्ट का अथवा उस भाँति के पत्थरों का प्रयोग अवश्य मिलता है, किन्तु बहुत सीमित मात्रा में। प्रायः उपरत्न जैसे कैल्सेडोनी (Chalcedony), इन्द्रगोप (Carnelian), अगेट (Agate), जैस्पर (jasper) ऑब्सीडियन (Obsidian) सदृश पत्थरों का ही प्रयोग मिलता है।

नव पाषाण काल (Neolithic Age) में उपकरण-निर्माण के लिए प्रायः बेसाल्ट (Basalt) एवं डोलराइट (Dolerite) सदृश पत्थरों का प्रयोग मिलता है, किन्तु सिकताश्म (Sand Stone) के उपकरण भी बहुतायत से मिले हैं।

विभिन्न भाँति के उपकरणों के निर्माण के लिए उपयुक्त प्रकार के प्रस्तर खण्ड का चुनाव बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु फिर भी इसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। बहुत से स्थानों में जहाँ अच्छे प्रकार के पत्थर नहीं मिलते हैं वहाँ भी घटिया किस्म के पत्थरों के बहुत ही सुन्दर उपकरण मिले हैं। विशेष बात यह है कि संसार के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के पत्थर मिलते हैं, किन्तु उपकरणों की बनावट में उनके आकार-प्रकार में एक विशेष समानता मिलती है। विभिन्न पत्थरों पर बनाये गए उपकरणों में समरूपता प्रागैतिहासिक मानव के उपकरण-निर्माण के तकनीकी कौशल की ओर संकेत करता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि संसार के विभिन्न स्थानों में उपकरण-निर्माण के लिए, स्थानीय अन्तर को छोड़कर, प्रायः एक ही प्रकार के तकनीकों का अनुसरण किया गया होगा।

प्रागैतिहासिक मानव को उपकरणों के निर्माण के लिए पत्थर प्रकृति में अनेक प्रकार से उपलब्ध थे। साधारणतया पत्थरों के टुकड़े पहाड़ियों पर, नदियों की घाटियों में **पेबुल** (Pebble)—ऐसे पत्थर के टुकड़े जो पानी में ढुलकने के कारण चिकने-गोलाकार, अण्डाकार आदि हो जाते हैं अर्थात् जिनके कोण समाप्त हो जाते हैं—आदि के रूप में सुलभ होते हैं। किस विशेष परिस्थितियों में उपयोगिता के दृष्टिकोण से प्रागैतिहासिक मानव शिला-खण्डों से भी पत्थरों को तोड़कर उपयोग में लाता रहा होगा।

फलीकरण (Flaking)

यह अनुमान करना सरल नहीं है कि मानव ने सर्वप्रथम साधारण पत्थर को शस्त्र के रूप में किस प्रकार से प्रयोग किया होगा। प्रागितिहास के सन्दर्भ में उपकरण केवल ऐसे पत्थरों को ही मानते हैं, जिन पर मानव-कृति (Human-workmanship) के निस्सन्देह प्रमाण मिलते हैं। सर्वप्रथम मानव ने प्राकृतिक रूप से प्राप्त पत्थरों का प्रयोग, उपकरण के रूप में, किया होगा। अपने आप से टूटे हुए पत्थरों की धार अथवा नोक को देखकर ही उसके मस्तिष्क में पत्थरों को नुकीला अथवा धारदार बनाने की सम्भावना का सूत्रपात हुआ होगा। उनका अनुकरण करके ही मानव ने प्रथम उपकरण बनाने का प्रयास किया होगा। पत्थरों को तोड़ने के लिए तथा आवश्यकतानुसार फलक निकालने के लिए उसने नाना भाँति के प्रयोग किए होंगे, फलतः नवीन प्रविधियों का आविष्कार हुआ होगा। यह कहना कठिन है कि प्रागैतिहासिक मानव ने पत्थरों को तोड़ने तथा उपकरण-निर्माण में किन प्रविधियों का उपयोग किया होगा। इस सम्बन्ध में हमारा सम्पूर्ण ज्ञान सम्भावना, विद्वानों के प्रयोगों तथा आदि जातियों के प्रस्तर उद्योगों के अध्ययन पर आधारित है। लीके महोदय के स्वयं के प्रयोग इस सम्बन्ध में सराहनीय हैं।

बड़े पत्थर के टुकड़े से आवश्यकतानुसार विशेष आकार-प्रकार के टुकड़ों को तोड़ना उतना सरल नहीं है, जितना अनुमान किया जाता है। किसी भी पत्थर को इच्छानुसार तोड़ने के लिए आवश्यक है कि स्थान-विशेष पर, उपयुक्त भार के हथौड़े से, विशेष प्रकार से प्रहार किया जाए, अन्यथा पत्थर अनियमित प्रकार से टूटेगा। उसे नियमित प्रकार से तोड़ने के लिए प्रागैतिहासिक मानव ने नाना प्रकार की प्रविधियों का आविष्कार किया होगा। उन प्रविधियों पर पूर्ण नियन्त्रण कर के ही वह उपकरण-निर्माण में सफलता प्राप्त कर सका। विभिन्न प्रविधियों का अध्ययन करने से पूर्व कुछ प्रारम्भिक तथ्यों का ज्ञान विशेष आवश्यक है।

आघात-स्थल (Striking platform)

किसी भी पत्थर को तोड़ने के लिए उस पर आघात करना आवश्यक है। ऐसे स्थल को जिस पर आघात करते हैं, उसे **आघात-स्थल** (Striking platform) कहते हैं, (चित्र सं०-६-१ ख) आघात स्थल दो प्रकार के —**अकृत्रिम** (Unprepared) तथा **कृत्रिम** (Prepared) होते है अकृत्रिम प्रकार के आघात-स्थल अनगढ़ित होते हैं। जिस स्थल पर तोड़ने के लिए प्रहार करते हैं उसे **आघात-स्थल** की संज्ञा प्रदान की जाती है। दूसरे प्रकार के आघात-स्थल को **फलकित आघात-स्थल** (Faceted striking Platform) भी कहते है, क्योंकि कृत्रिम आघा-तस्थल बनाने के लिए छोटे-छोटे फलक निकाल कर स्थान-विशेष को भलीभाँति गढ़ कर समतल बनाया जाता है। इस भाँति के कृत्रिम आघात-स्थल प्रायः विकसित फलक उद्योगों जैसे, लेवालेवा (Levalloisian) उद्योग में मिलते हैं।

सम्पर्क-बिन्दु (Point of Impact)

आघात-स्थल के जिस केन्द्र पर सम्पर्क स्थापित होता है, उसे **सम्पर्क-बिन्दु** (Point of Impact) कहते हैं। (चित्र सं० ६-१ ग)

चित्र सं०—६
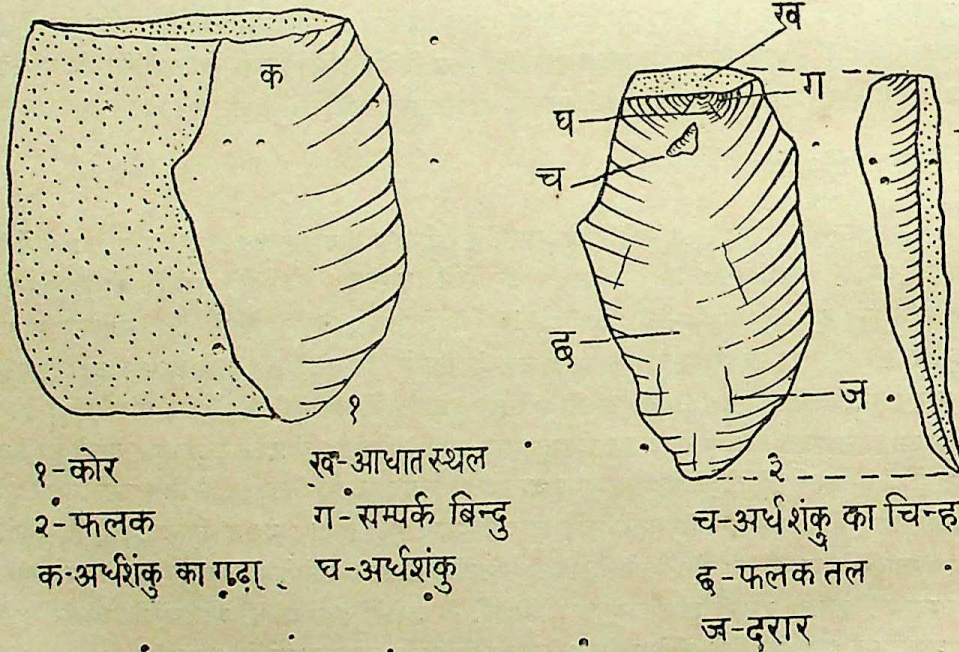
प्रस्तर-खण्ड पर आघात करने से उसमें स्वाभाविक अवरोध उत्पन्न होता है, फलतः शक्ति का प्रसार सीधी लाइन में नहीं हो पाता है। शक्ति का प्रसार पत्थर की बनावट, हथौड़े के आकार, कोमलता (Softness) अथवा कठोरता (Hardness) तथा प्रहार के कोण आदि पर निर्भर करता है। किसी भी पत्थर को तोड़ने के पूर्व इन सभी वस्तुओं को ध्यान में रखकर प्रहार करते हैं। साधारणतः निरन्तर प्रयास से ही इस विषय में ज्ञानार्जन किया जा सकता है। आघात के फलस्वरूप सम्पर्क-बिन्दु से बल-प्रवेश क्रम वर्द्धमान वृत्तों (Ever Widening Circles) में होता है जैसे, किसी जलाशय में कंकड़ी फेंकने पर आघात-स्थल को केन्द्र बनाती हुई वृत्ताकार लहरें उठती हैं। सम्पर्क-बिन्दु (Point of Percussion) के ठीक नीचे आघात के कारण उसी प्रकार से एक शंकु (Cone of Percussion) बन जाता है जैसे शरीर के किसी अंग पर चोट लगने से चोट के स्थान पर सूजन आ जाती है। इस प्रकार के शंकु को आघात का अर्धशंकु (Positive Bulb of Percussion) कहते हैं (चित्र सं० ६ घ)। ये दो प्रकार के—उन्नत (Prominent) तथा विस्तृत (Diffused)—होते है, जो प्रहार की तीव्रता तथा हथौड़े की बनावट, उसकी कोमलता एवं कठोरता पर निर्भर करता है। प्रायः कोमल हथौड़े के साधारण प्रहार से विस्तृत अर्धशंकु (Diffused Bulb of Percussion) का निर्माण होता है। कठोर हथौड़े के तीव्र प्रहार से उन्नत अर्धशंकु (Prominent Bulb of Percussion) बनता है। शंकु की बनावट केवल हथौड़े तथा प्रहार पर ही आधारित नहीं होती है। पत्थर की समागंता (Homogeneity) भी शंकु-निर्माण को प्रभावित करता है। शंकु के नीचे जहाँ पत्थर कमजोर होता है वहाँ पर आघात की तीव्रता के कारण दरारें (Fissures) पड़ जाती हैं (चित्र सं० ६—२ ज)। इस प्रकार की दरारों को **शैटर-मार्क** (Shatter-mark) कहते हैं। प्रायः तीव्र प्रहार के कारण आघात के अर्धशंकु के ऊपर एक छोटा-सा फलक निकल जाता है। इस प्रकार के चिह्न को **अर्धशंकु का चिह्न** (Bulbar Scar) कहते हैं, (चित्र सं०-६-च)।

कोर तथा फलक (Core and Flake)

जिस पत्थर पर आघात करते हैं तथा जिसमें से पत्थर का टुकड़ा फलक (Flake) निकलता है, उसे **कोर** (Core) कहते हैं। दूसरे शब्दों में कोर उस प्रस्तर खण्ड को कहते हैं, जिसमें से कोई पत्थर का टुकड़ा निकाला जाता है (चित्र सं० ६-१)। कोर से निकाले हुए पत्थर के टुकड़े को **फलक** कहते हैं, (चित्र सं०-६-२)। साधारणतया सभी पत्थर के टुकड़े को फलक की संज्ञा से अभिभूत नहीं करते हैं। केवल उन्हीं को फलक कहते हैं, जिनके ऊपर आघात का अर्धशंकु (Positive Bulb of Percussion) होता है। अर्धशंकु सभी अवस्थाओं में फलक के ऊपर ही होता है और किसी भी फलक का यही एकमात्र अकाट्य प्रमाण है। फलक के जिस तरफ अर्धशंकु होता है, उसे **फलक-तल** (Flake Surface) कहते हैं। जैसे फलक के ऊपर आघात का अर्धशंकु (उभरा हुआ) होता है वैसे ही कोर के ऊपर शंकु के आकार-प्रकार का गड्ढा (Negative Bulb of Percussion) बन जाता है, (चित्र सं० ६-१ क)। उसे **शंकु का गड्ढा** कहते हैं। यही कोर की पहचान है। जितना भाग कोर से फलक के रूप में निकलता है, उसका निशान गड्ढे के रूप में कोर पर बन जाता है। आघात-स्थल के पास गड्ढा अन्य स्थान की अपेक्षा अधिक होता हैं, जैसे कि फलक में आघात-स्थल के निकट शंकु का उभार सबसे अधिक होता है।

प्रायः जिन पत्थरों पर आघात शंकु अथवा शंकु के गड्ढे के प्रमाण मिलते हैं, उन्हें क्रमशः फलक अथवा कोर की संज्ञा प्रदान की जाती है। चूँकि इनका निर्माण आघात के फलस्वरूप ही होता है, अतः इन्हें सहज ही मानव-निर्मित मान लिया जाता है। किन्तु इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि वे सभी

पत्थर, जिन पर आघात-शंकु के प्रमाण होते हैं, मानव-निर्मित नहीं होते हैं। कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक कारणों से भी पत्थर टूटते हैं और उन पर शंकु का चिह्न मिलता है। नदियों में बहते हुए पत्थर एक-दूसरे से टकरा कर तथा पहाड़ियों से ढुलक कर अथवा गिर कर टूटते हैं। इस प्रकार से टूटे हुए पत्थरों में आघात-शंकु विद्यमान रहता है और साधारणतया उन्हें मानव खण्डित पत्थरों से अलग नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार के टूटे पत्थर (Split Pebble) कभी-कभी ऐसे स्थानों से प्राप्त होते हैं जहाँ मानव की उपस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ऐसी परिस्थितियों में अनेक वस्तुओं का ध्यान रखना पड़ता है, जैसे, उस स्थान की भौगोलिक स्थिति, जिस काल में मानव ने उन प्रस्तर खण्डों को तोड़ा होगा, उस काल में उस स्थान-विशेष की भौगोलिक अवस्था क्या रही होगी ? वह स्थान-विशेष मनुष्य के रहने योग्य था अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त सम्भावित उपकरण के फलकीकरण (Flaking Technique) पर भी ध्यान देना आवश्यक है। मनुष्य द्वारा फलकीकरण में सदैव एक क्रम मिलता है। यथासम्भव, न्यूनतम परिश्रम करके, उपयोगिता के दृष्टिकोण से वह उपकरण का निर्माण करने का प्रयास करता है, इसीलिए उसकी कृति में क्रम मिलता है। प्रकृति के फलकीकरण में इस प्रकार का क्रम नहीं होता, जब कभी भी पत्थर ढुलक कर, अनायास कहीं से गिरकर अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य परिस्थिति में पड़कर टूटते हैं, तो उनमें से फलक बिना किसी क्रम के इधर-उधर से निकल जाते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न कालों में नाना प्रकार की विधियों से टूटने के कारण प्रत्येक फलक-चिह्न का रंग, निकालने की रीति तथा आघात की दिशा सभी में भिन्नता होती हैं। किन्तु मानव निर्मित उपकरण के फलक चिह्नों (Flake Scars) का सूक्ष्म अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उनको निकालने में किसी निश्चित क्रम और प्रणाली का अनुसरण किया गया है। प्रायः सभी फलकों के निकालने का एक ही क्रम मिलता है, जो उनके मानव-निर्मित होने की सम्भावना की पुष्टि करता है। दोनों प्रकार के नमूनों के प्रत्यक्ष अध्ययन से उनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त, विधियों के अतिरिक्त प्रकृति में फलकीकरण अन्य प्रकार से तथा दूसरे कारणों से भी होता है। जलवायु की अत्यधिक अस्थिरता—गर्मी तथा ठण्ढक के कारण भी पत्थर चटक कर स्वयं ही टूटने लगते हैं-जैसे, गरम शीशे के ग्लास में ठण्डा अथवा ठण्ढे ग्लास में गरम पानी डालने से वह चटक कर टूट जाता है। ठण्डे प्रदेशों में रात में जब बहुत अधिक ठण्ढक पड़ती है तब पत्थर के सिकुड़ने के कारण अथवा आर्द्रता के जमने के कारण वह चटक कर टूट जाता है। इसी प्रकार रेगिस्तान सदृश प्रदेशों में जहाँ दिन में अत्यधिक गर्मी और रात में अत्यधिक ठण्ढक पड़ती है वहाँ पत्थरों के अनियमित रूप से विकसित और संकुचित होने के कारण वे चिटकने लगते हैं और टूट जाते हैं। इस प्रकार से टूटने को **तापीय कारण** (Thermal Action) से टूटना कहते हैं। कभी-कभी इस भाँति टूटे हुए पत्थर में भी अर्धशंकु का निर्माण हो जाता है। इस तरह के शंकु को तापीय (Thermal) शंकु कहते हैं। कभी-कभी इस प्रकार टूटे पत्थर के टुकड़े में किसी भाँति के शंकु का निर्माण नहीं होता है। ऐसी स्थिति में कोई कठिनाई नहीं होती है। तापीय शंकु के बनने पर भी आघात-शंकु से अलग करना कठिन नहीं है। तापीय शंकु के ऊपर अनियमित वृत्ताकार रेखाएँ पड़ती हैं, जबकि आघात शंकु पर नियमित रेखाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त पत्थर के ऊपर किसी भी स्थान पर आघात-स्थल अथवा सम्पर्क बिन्दु के प्रमाण नहीं होते हैं, क्योंकि इस प्रकार के फलकीकरण में संघात
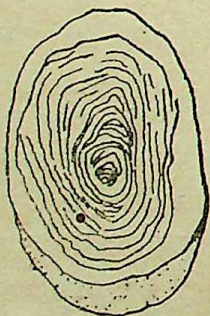
चित्र सं०—७, अनियमित वृत्ताकार रेखायें

होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रायः पत्थर के केन्द्र से 'क्रम वर्धमान् वृत्त' मिलते हैं, (चित्र सं०—७), जो इस बात का संकेत करते हैं कि पत्थर के मध्य से क्रिया प्रारम्भ हुई है। इन सभी तथ्यों का सूक्ष्म अध्ययन कर के संघात तथा तापीय कारणों से टूटे हुए फलकों को पृथक् किया जा सकता है।

पैटीनेशन (Patination)

कभी-कभी पत्थरों की बाह्य सतह पर पत्थर के वास्तविक रंग से भिन्न रंग मिलता है। इस भाँति के रंग अधिकतर पत्थरों के बाहरी सतह तक ही सीमित रहते हैं, किन्तु कभी-कभी सतह से थोड़े नीचे तक भी घुस जाते हैं। ये रंग पत्थर के वास्तविक रंग से भिन्न होते हैं। किन्तु इनको साफ करके मिटाया नहीं जा सकता है। ये स्वयं पत्थर की प्रकृति बन जाते हैं। यह रंग परिवर्तन पत्थरों के ऊपर रसायनिक क्रिया के कारण होता है। पत्थरों के ऊपर के रंग में इस प्रकार के रसायनिक रंग परिवर्तन को पैटीनेशन कहते हैं। सभी प्रकार की मिट्टी में कुछ न कुछ रसायनिक वस्तुएँ हुआ करती हैं। ये वस्तुएँ आर्द्रता के कारण पत्थर के सम्पर्क में आकर रसायनिक क्रियाएँ प्रारम्भ कर देती हैं, जिसके फलस्वरूप पत्थर का रंग बदल जाता है। रसायनिक पदार्थों का प्रभाव विभिन्न प्रकार के पत्थरों पर भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के रूप में यदि एक ही प्रकार की मिट्टी में फ्लिण्ट (Flint) तथा स्फटिकाश्म (Quartzite) के टुकड़े साथ-साथ पड़े हों, तो यह आवश्यक नहीं है कि दोनों के ऊपर समान रसायनिक क्रिया होगी। ऐसे ही, यदि दो प्रकार की मिट्टी में एक ही फ्लिण्ट के टुकड़े डाल दिए जायँ, तो दोनों स्थानों के पत्थरों पर रसायनिक प्रक्रियाएँ विभिन्न प्रकार की हो सकती है, क्योंकि भिन्न प्रकार की मिट्टी उन्हें भिन्न प्रकार से प्रभावित करेगी।

फलकीकरण प्रविधियाँ

प्रागैतिहासिक मानव उपकरण निर्माण के लिए आवश्यकतानुसार यथेष्ट आकार-प्रकार के प्रस्तर खण्डों का चयन करता रहा होगा, किन्तु यदा-कदा जहाँ ऐसे पत्थर सुलभ नहीं थे, वहाँ उसे बड़े पत्थर के टुकड़ों को तोड़ कर मनचाहे आकार का बनाना पड़ता होगा। यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं है कि पत्थर तोड़ने के लिए वह किन-किन प्राविधियों का उपयोग करता था। इस विषय में अनेक विद्वानों—लीके तथा ब्रायल आदि—ने प्रयोग किए हैं। उनके प्रयोग तथा कुछ आदिम जातियों के पत्थरों के तोड़ने के तरीके से इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। उन्हीं के आधार पर प्रागैतिहासिक मानव की फलकीकरण प्रविधियों का अनुमान किया गया है। उपकरण-निर्माण की सभी प्रविधियों को प्रमुखतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—निर्बाध फलकीकरण (Free-flaking Techniques) तथा नियन्त्रित फलकीकरण प्रविधियाँ (Controlled-flaking Techniques)। सर्वप्रथम **निर्बाध फलकीकरण** प्रविधियों पर विचार करेंगे।

किसी भी पत्थर को तोड़ने के लिए सबसे स्वाभाविक दो ही विधियाँ हो सकती हैं। प्रथम पद्धति के अनुसार जिस पत्थर को तोड़ना है, उसका सम्पर्क किसी स्थिर निहायी (Anvil) से कराया जाता है। प्रथम को **स्थिर हथौड़ा पद्धति** कहते हैं। दूसरी प्रविधि के अनुसार जिस पत्थर को तोड़ना है, उस पर किसी हथौड़े से आघात किया जाता है। इसे **चलायमन हथौड़ा पद्धति** कहते हैं।

स्थिर-हथौड़ा पद्धति (Anvil Technique)

इस पद्धति के अनुसार स्थिर निहायी से पत्थर का सम्पर्क दो प्रकार से कराया जा सकता है। प्रथम, पत्थर जिसे तोड़ना है, यदि वह बहुत बड़ा है, तो उसे यों ही निहायी पर पटक कर तोड़ा जा सकता है। यदि पत्थर बहुत बड़ा नहीं है, तो उसे दोनों हाथों में पकड़ कर घुमा-घुमा कर स्थिर निहायी पर बार-बार मार कर मनोवांछित आकर-प्रकार का बनाया जा सकता है। इस पद्धति से पत्थर के तोड़ने को **स्थिर-हथौड़ा** अथवा **निहायी-हथौड़ा पद्धति** (Anvil Technique) कहते हैं। इसे कभी-कभी **ब्लाक-आन-ब्लाक पद्धति** (Block-on-Block Technique) भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार एक प्रस्तर-खण्ड को दूसरे प्रस्तर खण्ड पर मारते हैं। स्थिर-हथौड़ा पद्धति की विशेषता यही है कि इसमें हथौड़ा स्थिर रहता है और जिसे तोड़ना है वही चलायमान होता है। इस पद्धति से साधारणतः रुक्ष फलक ही निकाले जा सकते हैं तथा इसमें परिशुद्धता (Accuracy) की सम्भावना भी बहुत कम होती है। चूंकि इस पद्धति में प्रहार की तीव्रता अधिक होती है, इसलिए इस पद्धति से निकाले हुए फलकों के अर्धशंकु अधिक विकसित (Developed or Prominent) होते हैं। उनके **फलक का कोण** भी अपेक्षाकृत बड़ा होता है। यह कोण प्रायः १२०° का होता है। **फलक का कोण** उस कोण को कहते हैं, जो आघात-स्थल और अर्धशंकु के बीच बनता है। प्रायः फलकों के ऊपर **आघात की दरारें** (Shatter Marks) और **अर्धशंकु का चिह्न** (Bulbar Scar) भी होते हैं। कोर के ऊपर उसी प्रकार से गहरे फलक चिह्न (Flake Scar) मिलते हैं।

इस पद्धति का प्रयोग प्रमुखतः, उपकरण बनाने के लिए, पत्थर को गढ़ने अथवा संवारने के लिए किया जाता होगा। इसका सबसे अधिक उपयोग **प्राथमिक फलकीकरण** (Primary Flaking) में ही है, क्योंकि सूक्ष्म फलकीकरण इस पद्धति से सम्भव नहीं है।

चलायमान हथौड़ा पद्धति (Hammer Technique)

उपर्युक्त पद्धति तथा चलायमान हथौड़ा पद्धति में एक मूल अन्तर है। प्रथम पद्धति में हथौड़ा स्थिर रहता है और जिस पत्थर को तोड़ना है वह चलायमान रहता है, किन्तु प्रस्तुत पद्धति के अनुसार जिस पत्थर को तोड़ना है वह स्थिर रहता है और हथौड़ा चलायमान होता है। इस पद्धति को दो प्रकार से कार्यान्वित किया जा सकता है। प्रथम के अनुसार जिस पत्थर को तोड़ना है, उसे एक हाथ में पकड़ा जाता है और उस पर दूसरे हाथ के हथौड़े से बारम्बार प्रहार करते हैं। दूसरी पद्धति के अनुसार जिस पत्थर को तोड़ना है उसे किसी नरम स्थान—वृक्ष की डाल, जानवर की हड्डी अथवा पैर के जंघे आदि पर रख कर प्रहार करते हैं, जिससे शक्ति का अवरोध कम से कम हो और पत्थर निर्दिष्ट स्थान से ही टूटे। प्रारम्भ में पत्थर के टुकड़े को हाथ में पकड़ कर उसके अवांछित कोणों को, बड़े-बड़े फलक निकाल कर सुडौल कर लेते हैं। इस प्रकार से फलक निकालने को **प्राथमिक फलकीकरण** (Primary Flaking) कहते हैं। इन फलकों में भी प्रायः वही विशेषताएँ होती हैं, जो प्रथम पद्धति से निकाले गए फलकों में जैसे, संघात का विकसित अर्धशंकु, रुक्ष फलक, अकृत्रिम आघात-स्थल, विस्तृत कोण आदि। कोर के ऊपर भी गहरे फलक चिह्न होते हैं। ये सभी वस्तुएँ इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि आघात अनियमित (Free-flaking) प्रकार से तीव्रता के साथ कठोर पदार्थ से किया गया है।

स्विंगिंग पद्धति (Swinging Technique)

प्रसिद्ध फ्रांसीसी पुरातत्त्ववेत्ता ब्रायल ने एक अन्य पद्धति का भी विवरण दिया है। उनके अनुसार

प्रागैतिहासिक मानव पत्थर को तोड़ने के लिए उसे त्वचा अथवा स्नायु की डोर से बाँध कर लकड़ी की तिपायी से घड़ी के लट्टू की भाँति लटका देता था, फिर उसे हिलाकर किसी पत्थर की निहायी से बार-बार सम्पर्क कराकर तोड़ता था। ब्रायल महोदय द्वारा प्रतिपादित पद्धति से निश्चय ही फलक निकाले जा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रागैतिहासिक मानव सरलता से फलक निकाल सकता था, तो इतने जटिल पद्धति का अनुसरण क्यों करता ? क्योंकि इस पद्धति के अनुसरण से कोई विशेष लाभ नहीं है। लीके भी इस पद्धति की उपयोगिता तथा लोकप्रियता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनका विचार है कि इस पद्धति से बहुत परिशुद्धता की भी आशा नहीं की जा सकती हैं।

द्विध्रुवीय प्रविधि (Bipolar Technique)

इस प्रविधि से बने उपकरण मुख्यतः चीन से ही प्राप्त हुए हैं। अनुमानतः पेकिंग मानव (Peking Man) अपने उपकरणों के निर्माण में इस प्रविधि का प्रयोग करता रहा होगा। ऊपर वर्णित प्रविधियों के अनुसार निकाले हुए फलकों में संघात का अर्धशंकु केवल एक पक्ष में अर्थात् फलक-तल पर सम्पर्क-विन्दु के नीचे होता है। किन्तु इस प्रविधि से बने फलकों में वह दोनों तलों पर मिलता है। प्रारम्भ में यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं था कि फलक में दोनों ओर अर्धशंकु कैसे बनता है। कालान्तर में विद्वानों के प्रयोगों से स्पष्ट हुआ कि इस प्रकार के फलक भी चलायमान हथौड़ा पद्धति से निकाले जा सकते हैं। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि जिस पत्थर को तोड़ना है, उसे किसी कठोर धरातल पर रखकर चलायमान हथौड़े द्वारा तीव्रता से प्रहार किया जाए। इस प्रकार संघात करने से जिस कठोर धरातल पर कोर रखा होता है, उसके बल-प्रतिघात (Rebound) से नीचे की ओर भी अर्धशंकु बन जाता है। ऊपर की ओर तो अर्धशंकु का निर्माण प्रत्यक्ष संघात के कारण होगा ही। इस प्रकार फलक के दोनों ओर एक-एक अर्धशंकु बन जाएँगें। उपर्युक्त प्रविधि प्रायः द्विध्रुवीय प्रविधि के नाम से विख्यात है।

उपर्युक्त सभी विधियों का उपयोग साधारणतः प्राथमिक फलकीकरण के लिए ही किया जाता होगा। किन्तु किसी भी उपकरण को पूर्णरूप से बनाने के लिए इस प्रकार के निर्बाध फलकीकरण के अतिरिक्त **नियन्त्रित फलकीकरण** की भी आवश्यकता पड़ती होगी। इस पद्धति के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रविधियों की गणना, प्रायः की जाती है—

सोपानपद फलकीकरण प्रविधि (Step Flaking Technique)

इस प्रविधि का उपयोग अपेक्षाकृत विकसित प्रकार के उपकरणों के निर्माण के लिए किया जाता था। इसके द्वारा उपकरण को अधिक सुडौल तथा उसके कार्यांगों को अधिक तीक्ष्ण बनाते थे। प्रायः ऐसे पत्थर जो समांग नहीं होते हैं, उनके उपकरण निर्माण के लिए यह प्रविधि अधिक उपयोगी है। असमांग पत्थरों में निश्चित रूप-रेखानुसार मनोवांछित फलक निकालना कठिन होता है। इस प्रविधि के अनुसार छोटे-छोटे फलक इस प्रकार से निकाले जाते हैं कि एक के शंकु का गड्ढा दूसरे फलक के लिए आघात-स्थल का कार्य करता है। इस प्रकार क्रमशः एक फलक चिह्न दूसरे फलक का आघात-स्थल बन जाता है। फलतः वह **सोपान पद** का स्वरूप धारण कर लेता है। इसीलिए इस पद्धति को **सोपानपद** फलकीकरण प्रविधि कहते हैं।
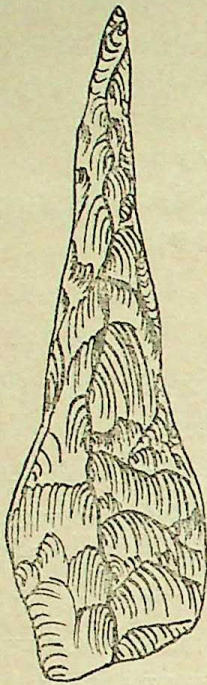
चित्र सं०—८—'S' ट्विस्ट अथवा लहरदार किनारा

एकान्तर फलकीकरण प्रविधि (Alternate Flaking Technique or 'S' Twist)

इस प्रविधि का उपयोग मुख्यतया किसी भी उपकरण के बाह्य किनारे अथवा कार्यांग को बनाने के लिए किया जाता था। इसके अनुसार उपकरण के किनारे से केन्द्रोन्मुख दिशा में फलक क्रमशः एक पक्ष से, फिर दूसरे पक्ष से निकालते हैं। इस विधि से फलक निकालने के कारण उपकरण का कार्यांग टेढ़ा-मेढ़ा अंग्रेजी के 'S' के समान लगता है। इसीलिए इसे 'S' ट्विस्ट कहते हैं। इस प्रविधि का उपयोग अधिक विकसित उपकरण के निर्माण के लिए ही किया जाता था। प्रायः आशूलियन उपकरणों में इस विधि के द्वारा बनाये गए बाह्य किनारे अथवा कार्यांग मिलते हैं।

कोमल अथवा बेलनाकार हथौड़ा पद्धति (Soft Cylindrical Hammer Technique)

अभी तक जिन प्रविधियों के विषय में अध्ययन किया गया है, उन सभी में प्रस्तर हथौड़े का ही प्रयोग किया जाता था, जिसके प्रहार से प्रायः गहरे तथा बड़े फलक निकलते हैं। किन्तु बहुत से इस प्रकार के उपकरण उपलब्ध हुए हैं, जिनके सूक्ष्म निरीक्षण से यह प्रतीत होता है कि उनके फलकीकरण में विशेष सजगता का परिचय दिया गया है। लीके, ब्रायल आदि के प्रयोगों से ज्ञात होता है कि प्रायः प्रस्तर हथौड़े के आघात से इस प्रकार के फलकों को निकालना सरल नहीं है। इसके साथ ही साथ उन्हीं के प्रयोगों से यह भी ज्ञात होता है कि इस प्रकार के फलक बेलनाकार हथौड़े द्वारा सरलता से निकाले जा सकते हैं। बेलनाकार हथौड़ा कड़ी लकड़ी, हड्डी अथवा मुलायम पत्थर के हो सकते हैं। इस प्रकार के हथौड़े के आघात से शक्ति की तीव्रता का सम्पर्क एक स्थान पर नहीं होता, अपितु विस्तृत क्षेत्र में होता है, तदनुसार शक्ति का प्रसार भी अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में होता है। हथौड़े की कोमलता के कारण शक्ति का प्रसार पत्थर में बहुत अन्दर तक नहीं हो पाता है। यही कारण है कि इस विधि से निकाले गए फलकों के आघात शंकु अविकसित तथा सपाट और फलक चिह्न छिछले होते हैं। इस विधि से फलक निकालकर बनाये गये कार्यांग प्रायः सीधे और बहुत तीक्ष्ण होते हैं तथा उपकरण बहुत ही सुडौल एवं समतल होते हैं। डॉ० संकालिया की धारणा है कि इस विधि का प्रयोग उपकरणों को संवारने के लिए तथा अन्तिम रूपरेखा देने के लिए किया जाता होगा। इस प्रविधि का प्रयोग प्रायः बहुत विकसित अवस्था के उपकरणों में जैसे, विकसित आशूलियन में मिलता है।

अप्रत्यक्ष संघात प्रविधि तथा निपीड प्रविधि (Indirect Percussion Technique And Pressure Technique)

प्रस्तरयुगीन फलकीकरण प्रविधियों में अप्रत्यक्ष संघात प्रविधि तथा निपीड प्रविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इन प्रविधियों का उपयोग एक विशिष्ट प्रकार के फलकों— जिन्हें ब्लेड (Blade)

कहते हैं—को निकालने के लिए ही प्रमुखतः किया जाता था। पतले एवं लम्बे ब्लेड फलक दूसरी विधि से सरलता से नहीं निकाले जा सकते हैं।

अप्रत्यक्ष संघात प्रविधि से ब्लेड-फलक निकालने के पूर्व जिस कोर से ब्लेड-फलक निकालना है, उसे भली-भाँति गढ़कर बेलनाकार (Cylindrical) बनाया जाता है। बम्बान से समकोण बनाते हुए एक या दोनों किनारों पर छोटे-छोटे फलक निकाल कर समतल आघात-स्थल बनाते हैं। तदुपरान्त अप्रत्यक्ष संघात प्रविधि द्वारा कोर के आघात-स्थल पर हड्डी अथवा कड़ी लकड़ी को किनारे पर रख कर कोमल हथौड़े से चोट करते हैं। इस प्रकार, सारांश में, प्रहार सीधे कोर पर न कर के अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। विभिन्न विद्वान् जिनमें केवराल, कूतेर तथा वार्न का नाम उल्लेखनीय है, इसी विधि से लम्बे ब्लेड-फलक निकालने में सफल हुए हैं।

लीके ने भी ब्लेड-फलक निकालने के अपने प्रयोग किए थे। उसका विवरण उन्होंने 'ए हिस्ट्री ऑव टेकनालजी' में दिया है। लीके के अनुसार भी ब्लेड-फलक निकालने के पूर्व उचित प्रकार का बेलनाकार कोर बनाते हैं तथा उसके एक या दोनों सिरों पर छोटे-छोटे फलक निकाल कर आघात-स्थल बनाते हैं। कोर को जाँघ से टिका कर रखते हैं और पत्थर के छोटे हथौड़े से, कोर के एक किनारे पर, आघात-स्थल से ४५° और जिस दिशा से फलक निकालना है, उससे १३५° का कोण बनाते हुए आघात करते हैं। इसी प्रकार कोर को घुमा-घुमाकर चारों ओर से फलक निकाल लेते हैं, जिससे वह नालीमत कोर (Fluted Core) का स्वरूप धारण कर लेता है। फिर दो फलक के गड्ढे जहाँ मिलते हैं, उनके ठीक ऊपर आघात करते हैं। इस प्रकार जो फलक निकलता है, उसके बीच में एक उभरी रेखा, कटक (Ridge) तथा किनारे समानान्तर (Parallel) होते हैं। केवराल तथा लीके की विधियों में प्रमुख अन्तर केवल इतना है कि एक में अप्रत्यक्ष संघात होता है तथा दूसरे में प्रत्यक्ष।

ब्रिजेट अलचिन[1] का मत है कि मध्यपाषाण युग (Middle Stone Age) के ब्लेड फलक प्रत्यक्ष संघात से निकाले जाते रहे होंगे, क्योंकि उन पर उपलब्ध अर्धशंकु अथवा अर्धशंकु का गड्ढा अधिक गोलाकार अथवा गहरा होता है। अलचिन का मत केवल पाक्षिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है, क्योंकि बहुत से ब्लेड फलकों में आघात शंकु गोलाकार न होकर चिपटा भी मिलता है। उनका आघात-स्थल भी बहुत पतला होता है तथा आघात का कोण भी ९०° के लगभग होता है। ये सब इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ब्लेड फलक प्रत्यक्ष संघात के अतिरिक्त किसी अन्य विधि से निकाला गया है। इसके अतिरिक्त बहुत लम्बे ब्लेड फलक भी प्रायः प्रत्यक्ष संघात विधि से नहीं निकाले जा सकते हैं। छोटे फलकों के विषय में श्रीमती अलचिन का मत अधिक मान्य हो सकता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि प्रागैतिहासिक मानव आवश्यकतानुसार दोनों ही प्रविधियों का उपयोग करता होगा।

उपर्युक्त विधियों से थोड़ी परिवर्तित रीति से गुजरात के कैम्बे नामक स्थान पर आज भी ब्लेड-फलक निकाले जाते हैं। ये लोग निहाई (Anvil) के ऊपर धातु का नुकीला उपकरण भलीभाँति गाड़ देते हैं तथा उस पर कोर के उस अन्त को रखते हैं, जिसमें से फलक निकालना है। तदुपरान्त दूसरे अन्त पर हड्डी के हथौड़े से आघात करते हैं।[2] इस प्रविधि से निकाले गए फलकों के ऊपर आघात शंकु प्रायः बिलकुल सपाट होता है।

---

१. अलचिन, बी—'दी इण्डियन मिड्ल स्टोन एज, १९५६, पृ० ८, बी० एल० यू० ११।
२. संकालिया, एच० डी०—पाश्वोंद्धरित, १९६४, पृ० ३३।

ब्लेड फलक निकालने की दूसरी प्रविधि **निपीड प्रविधि** (Pressure Technique) है। इस प्रविधि के अनुसार जिस कोर से ब्लेड फलक निकालना है, उसे अन्य प्राथमिक प्रविधियों से गढ़कर बहुत कुछ उसी प्रकार से जैसे लीके ने 'ए हिस्ट्री ऑव टेकनालजी' में बताया है, बेलनाकार बना लेते हैं। संसार में आज भी अनेक ऐसी जातियाँ हैं, जो निपीड प्रविधि से लम्बे ब्लेड-फलक निकालती हैं। अमेरिकन-इण्डियन निपीड प्रविधि से किस प्रकार लम्बे ब्लेड-फलक निकालते हैं इसका विषद वर्णन बार्स[1] ने किया है। उनके अनुसार कोर को गढ़ लेने के बाद फलक निकालने के लिए २ या ३ इंच (५ या ७½ सेमी०) व्यास की तीस इंच (७५ सेमी०) अथवा ४ फीट (लगभग १ मी० २२ सेमी०) लम्बी लकड़ी को लेते हैं। उसके एक अन्त पर नुकीली हड्डी अथवा हिरन के सींघ के अग्रभाग सदृश उपकरण को लगाकर तन्तु आदि से बाँध देते हैं, जिससे लकड़ी फटने न पाये। फिर कोर को कड़ी जमीन में थोड़ा गाड़कर पैर से दबा लिया जाता है, यदि बैठ कर फलक निकालना है तो छोटी डण्डी, यदि खड़े होकर निकालना है तो लम्बे डण्डे का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी कोर को जमीन में न गाड़ कर उसको लकड़ी की खपच्ची का शिकंजा बनाकर उसमें बाँध देते हैं। लकड़ी के शिकंजे को पैरों के नीचे दबाकर खड़े हो कर, शरीर के भार से दबाते हैं। कोर के ऊपर जिस स्थान पर डण्डे के नुकीले अग्रभाग को रखते हैं वहाँ पर पहले से खड्डा बना लेते हैं, जिससे डण्डा फिसलने न पाये। क्रोवर ने 'लाइफ आन इशी दि याही' में भी इसी प्रकार का विवरण दिया है। अनुमानतः प्रागैतिहासिक मानव भी कुछ स्थानीय तथा आवश्यक परिवर्तनों के साथ इसी प्रकार की किसी विधि का अनुसरण करता होगा। थोड़ी दक्षता प्राप्त करने के बाद इस प्रविधि से ब्लेड निकालने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है।

डॉ० संकालिया की धारणा है, पूर्ण उपकरण बनाने में लगभग तीस मिनट लगते होंगे।[2] किन्तु पूर्ण दक्षता प्राप्त करने के बाद सम्भवतः इतना समय भी नहीं लगता होगा।

क्रेस्टेडरिज (Crested Ridge)

लम्बे ब्लेड फलकों की गणना में क्रेस्टेडरिज (Crested Ridge Blade) प्रकार के ब्लेड फलक उल्लेखनीय हैं। इनकी विशेषता तकनीकी विशिष्टता के कारण मात्र नहीं है। कुछ काल पूर्व तक धारणा थी कि इस प्रकार के ब्लेड-फलक भारतीय प्रस्तर युग के अन्तिम चरण में सर्वप्रथम पदार्पण करते हैं। इनको प्रायः ताम्रपाषाण युग से सम्बन्धित किया जाता था, क्योंकि अधिकांशतया ये ऐसे ही स्तरों से मिले हैं। किन्तु हाल ही में मिर्जापुर के कुछ शिलाश्रयों के उत्खनन[3] में उत्तरपाषाण-काल के अन्तिम स्तर से क्रेस्टेडरिज प्रकार के कुछ ब्लेड-फलक मिले हैं, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि इनका प्रारम्भ पाषाण युग के अन्त से पहले ही हो गया होगा। इस प्रकार के ब्लेड-फलक की विशिष्टता यह है कि इसमें फलक के पृष्ठ की उभरी रेखा (Ridge) सीधी न होकर टेढ़ी-मेढ़ी अंग्रेजी के 'S' के समान होती है, उसके यह आकृति पृष्ठरेखा (Ridge) के दोनों पार्श्वों से एकान्तरतया (Alternately) फलक निकालने के कारण होती है। क्रेस्टेडरिज-ब्लेड-फलक निकालने के लिए विशेष

---

१. **बार्स, ए० एस०—दी टेकनीक आव ब्लेड प्रोडेक्शन इन मेसोलिथिक एण्ड नियोलिथिक टाइम्स। प्रो०, प्री०, सो० वाल्यूम XIII, १९४७, पृ० १०१-११३।**

२. **संकालिया, एच० डी०—पार्श्वोद्धरित, १९६४, पृ० ३७–३८।**

३. **वर्मा०, आर० के०—दि स्टोन एज कल्चर्स आफ मिर्जापुर (अप्रकाशित थीसिस), १९६४, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पृ० ४२० आदि।**

प्रकार का कोर बनाना पड़ता है। कोर के एक किनारे को जहाँ से क्रेस्टेडरिज-ब्लेड निकालना है, पृष्ठरेखा मानकर उसके दोनों ओर से एकान्तर रीति से छोटे-छोटे फलक निकाले जाते हैं, उसके पश्चात् पृष्ठरेखा के एक अन्त पर कृत्रिम आघात-स्थल बनाकर अप्रत्यक्ष संघात विधि अथवा निपीड विधि से फलक को निकालते हैं। कोर से निकलने के बाद ब्लेड-फलक की पृष्ठरेखा लहरदार, अंग्रेजी के 'S' के समान लगती है। पृष्ठरेखा की आकृति के आधार पर ही इसका नामकरण क्रेस्टेडरिज-ब्लेड (Crested Ridge Blade) किया गया है। सर जान इवांस की धारणा है कि इस विधि से अधिक लम्बे फलक निकालने में सुविधा होती होगी, क्योंकि एकान्तरतया फलक निकालने से पृष्ठरेखा फलक को नियमित करती है। किन्तु निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में कुछ कह सकना कठिन है, क्योंकि बिना क्रेस्टेडरिज के भी बहुत लम्बे और पतले ब्लेड मिलते हैं।

चित्र सं०—९
क्रेस्टेडरिज फलक

पुनर्गठन

पुनर्गठन का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं। प्रथम अर्थ में इसका तात्पर्य केवल इस प्रकार के द्वितीय फलकीकरण मात्र से है, जिसके द्वारा उपकरण को सुडौल बनाते हैं। किन्तु यहाँ पर इसका प्रयोग इस दृष्टिकोण से नहीं किया गया है। पुनर्गठन से तात्पर्य उस प्रकार के फलकीकरण मात्र से है, जिससे उपकरण के कार्यांग की धार को तेज (Sharp) अथवा किसी भाग-विशेष की धार को मंद (Blunt) करते हैं।

उपकरण निर्माण के इतिहास में पुनर्गठन विकास का द्योतक है। अनुमानतः, मनुष्य को पुनर्गठन की आवश्यकता तथा उपयोगिता का भान बहुत बाद में हुआ। पूर्वपाषाण युग के उपकरणों में पुनर्गठन के प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। यूरोप में पुनर्गठन के प्रमाण आशूलियन काल से, निश्चित रूप से, मिलने लगते हैं। पुनर्गठन का सबसे विकसित स्वरूप उत्तरपाषाण काल के उपकरणों में ही मिलता है।

पुनर्गठन के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं। डॉ० संकालिया का मत है कि केवल धार को तेज करने के लिए ही पुनर्गठन का प्रयोग बहुत तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है। उनके अनुसार बहुत से पत्थर जैसे स्फटिकाश्म, डोलराइट, फ्लिण्ट आदि इस प्रकार से टूटते है कि बिना किसी पुनर्गठन के ही उनकी धार बहुत तेज होती है। उनके अनुसार, पुनर्गठन का वास्तविक उपयोग, प्रयोग में लाने से खराब हुए कार्यांग को पुनर्जीवित करना है। डॉ० संकालिया का यह मत केवल आंशिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है। क्योंकि प्रयोग से खराब हुए कार्यांग को पुनर्जीवित करने के लिए तो इनका प्रयोग होता ही था। साथ ही साथ कार्यांग बनाने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता था। प्रायः फलक से बने उपकरणों की धार स्वयं तेज रहती है, किन्तु अधिकांशतया कोर पर बने उपकरणों में धार बनाना आवश्यक होता है। स्क्रेपर की धार बनाने के लिए पुनर्गठन आवश्यक है। स्वयं तेज धार के स्क्रेपर-सदृश उपकरण को उस समय तक स्क्रेपर की संज्ञा प्रदान नहीं करते, जब तक कि उस पर पुनर्गठन के प्रमाण नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त क्लीवर के कार्यांग पर, प्रायः, किसी भी प्रकार के पुनर्गठन के प्रमाण नहीं मिलते हैं। उनका निर्माण इस प्रकार होता है कि कार्यांग, स्वयं ही काफी तेज होता है। केवल नतोदर (Concave) कार्यांग क्लीवर बनाने के लिए पुनर्गठन की आवश्यकता पड़ती है।

पुनर्गठन को, उपयोगिता की दृष्टिकोण से, निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. कार्यांग बनाने के लिए।
२. भुथड़े कार्यांग को तेज करने के लिए।
३. उपकरण की भुजा अथवा भुजाओं को भुथड़ा (Blunt) करने के लिए।

प्रथम तथा दूसरे प्रकार का पुनर्गठन पाषाण काल के सभी युगों में प्रचलित था। किन्तु तीसरे प्रकार का पुनर्गठन केवल उत्तरपाषाण काल के उपकरणों में ही, प्रमुखतया मिलता है। इस काल के अधिकांश उपकरणों का निर्माण किसी भुजा के भाग-विशेष, एक भुजा अथवा एक से अधिक भुजाओं को भुथड़ा कर के किया जाता है। कार्यांग को प्रायः अनगठित (Unretouched) ही छोड़ देते हैं। भुथड़ा करने का वास्तविक प्रयोजन क्या था, स्पष्ट कहना कठिन है ? किन्तु अनुमानतः मूठ में लगाने के लिए अथवा हाथ से पकड़ने पर न गड़, इसलिए किया जाता था।

पुनर्गठन संघात तथा निपीड़ दोनों ही प्रविधियों से किया जाता था। पूर्वपाषाण काल में पुनर्गठन प्रायः, प्रत्यक्ष संघात प्रविधि से ही किया जाता था। इस काल के पुनर्गठन अधिकांशतया रूक्ष हैं। प्रत्यक्ष संघात दोनों स्थिर तथा चलायमान हथौड़ा पद्धतियों से किया जाता होगा। अधिक सूक्ष्म पुनर्गठन कोमल अथवा बेलनाकार हथौड़े से भी करते रहे होंगे।

मध्यपूर्वपाषाण काल (Middle Palaeolithic) या मध्यपाषाण काल (Middle Stone Age) में पुनर्गठन की कला पहले की अपेक्षा बहुत विकसित प्रकार की मिलती है। पुनर्गठन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों संघात प्रविधियों से तो किया जाता ही होगा, इसके अतिरिक्त निपीड प्रविधि का भी प्रयोग करते रहे होगें। बहुत से उपकरणों के पुनर्गठन इतने सूक्ष्म (Minute) तथा क्रमबद्ध (Regular) हैं कि उन्हें साधारणतया संघात प्रविधि—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष—से नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार का पुनर्गठन, निश्चय ही, निपीड प्रविधि से ही किया गया होगा। अनुमानतः, ब्लेड-फलकों में पुनर्गठन निपीड प्रविधि से ही किया जाता था।

उत्तरपाषाण काल (Late Stone Age or Mesolithic age) में पुनर्गठन केवल निपीड प्रविधि से ही होता था। इस काल के अधिकांश उपकरण इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका पुनर्गठन संघात प्रविधि से असम्भव है। पुनर्गठन करने के लिए उन्हें किसी बड़े जानवर की हड्डी अथवा लकड़ी पर रख कर, सींघ, कड़ी लकड़ी अथवा नुकीले पत्थर से निपीड़ प्रणाली द्वारा क्रमशः, बहुत सूक्ष्म फलकों को निकालते थे।[1] इस कार्य के लिए लकड़ी में लगे ब्यूरिन प्रकार के उपकरण बहुत उपयोगी होंगे।

उपयोगिता के आधार पर पुनर्गठन के अनेक विभाजन किए जा सकते हैं। इसके प्रमुख विभाजन निम्न हैं :—

[१] धार को बनाने के लिए पुनर्गठन, विभिन्न युगों में आवश्यकतानुसार, विभिन्न रीतियों से किया जाता था। पूर्व पाषाण काल अथवा प्रारम्भिक पाषाण काल में यह दो रीतियों से—एक पक्षीय

१. डा० संकालिया को लघंनाज में एक गैंडे की कंधे की हड्डी (Shoulder-bone of Rhinoceros) प्राप्त हुई थी जिसके ऊपर बहुत से खड्डे (Slots) बने हुए थे। विद्वानों का अनुमान है कि इन खड्डों में उपकरण को फँसाकर उनपर पुनर्गठन करते रहे होगें।

(Unifacial) तथा उभयपक्षीय (Bifacial) होता था। सबसे प्रारम्भिक काल के उपकरणों में पुनर्गठन केवल एकपक्षीय ही मिलता है, किन्तु विकसित प्रकार के उपकरणों में जैसे, आशूलियन अथवा विकसित आशूलियन में वह उभयपक्षीय होता है तथा बहुत छिछले तथा छोटे फलक, केन्द्रोन्मुख संघात (Centrally Directed Percussion) द्वारा निकाले जाते थे। बहुत विकसित अर्थात् विकसित आशूलियन प्रकार के उपकरणों में इस प्रकार के फलक कार्यांग के दोनों ओर से क्रमशः एकान्तरतया निकाले जाते हैं। जब फलक बहुत छोटे और छिछले होते हैं, तब कार्यांग अपेक्षाकृत सीधा लगता है, किन्तु जब बड़े-बड़े फलक निकाले जाते हैं तब वह टेढ़ा-मेढ़ा अंग्रेज़ी के 'S' के समान लगता है। प्रायः टेढ़े-मेढ़े कार्यांग को सीधा बनाने के लिए भी छोटे-छोटे केन्द्रोन्मुख फलक (Centrally Directed Flakes) आवश्यकतानुसार, एक या दोनों पक्षों से निकाले जाते थे।

मध्य-पूर्व पाषाण काल तथा उसके बाद के उपकरणों में प्रायः **एकपक्षीय पुनर्गठन** (Unifacial Retouching) ही अधिक मिलता है। उभयपक्षीय पुनर्गठन केवल कुछ उपकरणों तक ही सीमित था, क्योंकि अधिकांश उपकरण छोटे और सूक्ष्म होने लगते हैं। पुनर्गठन पूरे कार्यांग पर अथवा भाग-विशेष तक ही सीमित रहता है। डॉ० संकालिया ने इस प्रकार के पुनर्गठन को तीन प्रमुख भागों में विभक्त किया है। जब पुनर्गठन क्रमबद्ध नहीं होता, केवल थोड़ी-थोड़ी दूर पर होता है अथवा कुतरने के समान होता है, तो उसे **निबलिंग रिटच** (Nibbling Retouch) कहते हैं। जब धार को किसी कोण में बनाते हैं, तो उसे तिरछा अथवा **वक्र पुनर्गठन** (Oblique Retouch) कहते हैं। इसके अतिरिक्त क्रमबद्ध (Regular) तथा **सीधा पुनर्गठन** (Straight Retouch) भी होता है।[1]

उत्तर पाषाण काल (Late Stone Age or Mesolithic Age) में कार्यांग को तेज बनाने के लिए पुनर्गठन, प्रायः नहीं मिलता है। यदि पुनर्गठन के प्रमाण मिलते भी हैं, तो केवल स्क्रेपर तथा मोटे ब्लेड-फलकों में। ताम्रपाषाण काल (Chalcolithic Age) अथवा कांस्य काल (Bronze Age) में भी इस प्रकार के पुनर्गठन के प्रमाण नहीं ही मिलते हैं। पुनर्गठन एक विशिष्ट प्रकार के ब्लेड उपकरणों पर जिन्हें दन्तरित ब्लेड (Serrated Blade) कहते हैं, मिलते हैं। दन्तरित ब्लेड बनाने के लिए साधारण ब्लेड-फलक के एक किनारे को किसी धारदार पत्थर पर ब्लेड से समकोण बनाती हुई दिशा में समान दूरी पर रगड़-रगड़ कर, दाँते बनाये जाते हैं। जिस ब्लेड को दन्तरित बनाना है उसे स्थिर धारदार पत्थर पर घिसते हैं अथवा ब्लेड को पैरों से पकड़कर उसके ऊपर धारदार पत्थर से घिसते हैं। किसी भी रीति से घिसा जावे, उपकरण बनने के पश्चात् वह आरी के समान लगता है।

[२] धार को पुनर्जीवित (Rejuvenate) करने के लिए भी पुनर्गठन किया जाता था, किन्तु इसके लिए भी प्रायः वे ही विधियाँ उपयोग में लाई जाती थीं, जिनका उपयोग धार को तेज बनाने के लिए किया जाता है। परित्यक्त उपकरणों के, केवल धार को पुनर्जीवित कर के, प्रयोग करने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार के उपकरणों में पुनर्गठित कार्यांग को छोड़कर प्रायः सभी भाग भली-भाँति रसायनिक रंगों से रँगा होता है। पैटीनेशन इस बात का प्रमाण है कि उपकरण बनने के बाद बहुत काल तक परित्यक्त रहा, जब कि उस पर रसायनिक क्रिया हुई। केवल कार्यांग पर पैटीनेशन

१. संकालिया, एच० डी०—पाश्र्वोद्धरित, १९६४, पृ० ४१-४२।

का न मिलना इस बात का प्रमाण है कि परित्यक्त उपकरण के केवल कार्यांग को पुनर्जीवित कर के प्रयोग में लाया गया था।

[३] तीसरे प्रकार का पुनर्गठन प्रथम दोनों प्रकार के पुनर्गठन से भिन्न है। इसमें कार्यांग को तीखा या पुनर्जीवित करने की अपेक्षा भुथड़ा (Blunt) करते हैं। इस प्रकार के पुनर्गठन का प्रयोग प्रमुखतः उत्तर पाषाण काल तथा उसके बाद के युगों में ही मिलता है। उसके पहले के युगों—मध्य-पूर्व पाषाण काल (Middle Palaeolithic) तथा उच्च-पूर्व पाषाण काल (Upper Palaeolithic) में इसका प्रयोग छिद्रक (Borer) सदृश उपकरणों के बनाने में किया जाता था। उत्तर पाषाण काल तथा उसके बाद के कालों में बहुत से उपकरणों का निर्माण इसी प्रकार की पुनर्गठन प्रणाली द्वारा मिलता है। इस प्रविधि से बनाए गए उपकरणों में सभी प्रकार के भुथड़े पार्श्व बलेड (Blunted-back Blade) छिद्रक (Borer) अर्धचान्द्रिक (Lunate), त्रिभुज (Triangles), समलम्ब चतुर्भुज (Trapeze) आदि उपकरणों की गणना की जाती है।

उपकरण के किसी भाग-विशेष को निम्नलिखित प्रकार से भुथड़ा किया जा सकता है—

उपकरण के किसी भा अंग को भुथड़ा एकपक्षीय (Unifacial) अथवा उभयपक्षीय (Bifacial) पुनर्गठन से किया जा सकता है। इस प्रकार का पुनर्गठन संघात तथा निपीड दोनों ही प्रविधियों से, किसी नुकीली हड्डी, सींघ, कड़ी लकड़ी अथवा पत्थर के माध्यम से किया जा सकता है। एकपक्षीय पुनर्गठन में भुथड़ा किनारा एकदम सीधा ९०° का कोण न बनाकर ६०° के लगभग का कोण बनाता है। पुनर्गठन एक ही पक्ष—पृष्ठपक्ष (Dorsal) अथवा उदरपक्ष (Ventral) से किया जाता है। उभयपक्षीय (Bifacial) पुनर्गठन दो रीतियों से होता है। प्रथम रीति के अनुसार भुथड़ा किनारा बिलकुल सीधा ९०° का कोण बनाता है। इसमें छोटे-छोटे फलक दोनों पक्षों से क्रमशः निकाले जाते हैं। दूसरे प्रकार के उभयपक्षीय पुनर्गठन को ऐसे करते हैं कि किनारा एकदम सीधा न होकर '<' आकृति का बने। इसमें दोनों ही तरफ से ४५° के लगभग कोण बनाते हुए फलक इस प्रकार से निकाले जाते हैं कि वे बीच में एक उभरी रेखा (कटक=Ridge) बनाते हुए मिलते हैं। इस प्रकार के भुथड़े उपकरण सर्वप्रथम इजिप्ट में हेलुअन (Heluan) नामक स्थान पर मिले थे। अपनी विशिष्टता के कारण, स्थान के नाम पर, इस प्रकार के पुनर्गठन को 'हेलुअन पुनर्गठन' (Heluan Retouch) कहा गया। बाद में इसी को 'रिज-बैक रिटच' (Ridge-back Retouch) की संज्ञा प्रदान की गयी। अब यह इसी नाम से विख्यात है।

ऊपर दिये गये पुनर्गठन के वर्गीकरण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पुनर्गठन भी मिलते हैं, किन्तु उन्हें किसी वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। उनका प्रयोग उपकरण को सुडौल बनाने में अथवा मूठ आदि में मढ़ने के लिए अथवा हाथ में पकड़ने के लिए आवश्यकतानुसार स्थान-विशेष पर उपयोगितानुसार किया जाता है।

कोर तथा फलक संस्कृतियाँ (Core and Flake Cultures)

पेबुल पर बने उपकरणों को छोड़ कर, प्रायः, सभी पाषाण उपकरणों को दो प्रमुख भागों—कोर तथा फलक उपकरणों—में विभाजित कर सकते हैं। कोर पर बने उपकरणों को **कोर उपकरण** तथा फलक पर बने उपकरणों को **फलक उपकरण** कहते हैं। कोर तथा फलक में उत्पत्तिजन्य सम्बन्ध है। एक के बिना

दूसरे की उत्पत्ति तथा दूसरे के बिना प्रथम के नामकरण की सार्थकता नहीं रह जाती, अतः इस प्रकार के विभाजन के औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार अन्यत्र किया जाएगा।

कोर पर बने उपकरणों को उनके विकास की अवस्था तथा प्रविधि के आधार पर विभिन्न नामों से—एबेवीलियन (Abbevillian) तथा आशूलियन (Acheulian), तथा फलक पर बने उपकरणों को—क्लैक्टोनियन (Clactonian) और लेवालेवा (Levalloisian) नामों से सम्बोधित करते हैं। ये चारों नाम स्थान-विशेष पर आधारित हैं। इन नामों का प्रयोग उद्योग तथा प्रविधि दोनों ही अर्थों में किया जाता है, किन्तु वास्तविक अर्थों में इन्हें सांस्कृतिक शब्द ही मानना चाहिए। विद्वान् इनका प्रयोग सांस्कृतिक स्तर (Cultural Stage) तथा तकनीकी अवस्था का निर्देश करने के लिए करते हैं। नीचे की पंक्तियों में इन पर क्रमशः विचार किया गया है।

एबेवीलियन (Abbevillian)

उत्तर फ्रांस के सोम घाटी (Somme Valley) में एबेविल (Abbeville) नामक स्थान है, वहाँ पर, निम्नतर स्तर से, जो यूरोप के प्रातिनूतन काल के मध्य-स्तर के अथवा द्वितीय हिमावर्तन अर्थात् मिण्डेल (Mindel) के समकालीन रखा जा सकता है, कोर पर बने उपकरण प्राप्त हुए थे। इन्हें स्थान के नाम पर एबेवीलियन कहा गया। इस प्रकार के उपकरण, एबेविल से पहले, साइन (Seine) तथा मार्ने (Marne) नदियों के संगम पर, शैल (Chelles) नामक स्थान से भी प्राप्त हुए थे। अतः, प्रारम्भ में इन उपकरणों को शैलियन (Chellean) की संज्ञा प्रदान की गयी थी, किन्तु एबेविल की खोज के उपरान्त इस प्रकार तथा उस स्तर के सभी उपकरणों को शैलियन के स्थान पर एबेवीलियन ही कहा गया, क्योंकि एबेविल का क्रम (Sequence) शैल से अधिक स्पष्ट था। यूरोप आदि स्थानों में एबेवीलियन का प्रयोग कालक्रम तथा सांस्कृतिक दोनों ही संदर्भों में किया जाता है। किन्तु भारत में यह कालक्रम का द्योतन नहीं करता। इसका प्रयोग केवल सांस्कृतिक तथा तकनीकी अवस्था के द्योतन के लिए ही किया जाता है।

एबेवीलियन प्रकार के उपकरण फ्रांस तथा यूरोप के पूर्व पाषाणयुगीन उपकरणों में प्राचीनतम हैं। ये अविकसित और रुक्ष होते हैं। इस काल के हैण्डऐक्सों पर फलक चिह्न गहरे (Deep Flake Scars) तथा अनियमित (Irregular) होते हैं। उपकरणों की बाह्यरेखा (Out line) भी टेढ़ी-मेढ़ी (Zig-zag) होती है। फलक चिह्नों को देखने से लगता है कि वे प्रत्यक्ष संघात प्रविधि अर्थात् स्थिर-हथौड़ा या चलायमान हथौड़ा पद्धति से निकाले गये हैं। द्वितीय फलकीकरण (Secondary flaking) तथा पुनर्गठन (Retouching) के प्रमाण, प्रायः नहीं मिलते हैं। उपकरण को बनाने के लिए फलकीकरण, उपयोगिता के दृष्टिकोण से, केवल सीमित स्थानों में ही मिलता है। उपकरण के अधिकांश भागों में, मुख्यतः समन्तान्त (Butt-end) पर बाह्यक (Cortex) विद्यमान रहता है।

आशूलियन (Acheulian)

आशूलियन उद्योग का नाम फ्रांस के सोम घाटी (Somme Valley) में स्थिति सेण्ट आश्यूल (St. Acheul) नामक स्थान पर आधारित है। ये एबेवीलियन प्रकार के उपकरणों से विकसित अवस्था के उपकरणों का निर्देश करते हैं। यूरोप के हिम-युगों (Ice Ages) के काल-क्रमानुसार आशूलियन प्रकार के उपकरणों का प्रारम्भ मिण्डेल-रिस हिम प्रत्यावर्तन (Mindel-riss Interglacial) से

होता है तथा अन्तिम हिम प्रत्यावर्तन रिस्-वुर्म हिम प्रत्यावर्तन (Riss-wurm Interglacial) तक, ये, प्राप्त होते हैं। एबेवीलियन तथा आशूलियन उद्योगों में साधारणतः कोई विकासक्रम नहीं मिलता है। आशूलियन काल में एकाएक परिवर्तन मिलने लगता है। लीके की धारणा है कि आशूलियन का विकास यूरोप के बाहर मिण्डेल काल में ही हो गया होगा। यूरोप में यह, मिण्डेल-रिस् हिम प्रत्यावर्तन में आया। आशूलियन उद्योग को यूरोप में निम्न, मध्य तथा उच्च भागों में विभाजित करते हैं। इन तीनों में क्रमिक विकास की प्रवृत्ति के प्रमाण मिलते हैं।

यूरोप के बाहर विशेषतः भारत में आशूलियन शब्द का प्रयोग एबेवीलियन के समान केवल सांस्कृतिक अर्थ में ही होता है। ये काल-क्रम का बोध नहीं करते हैं। आशूलियन उपकरणों में सर्वप्रथम नियन्त्रित फलकीकरण प्रविधियों (Controlled Flaking Techniques) के प्रमाण मिलने लगते हैं। फलक चिह्न छिछले (Shallow Flake-scars) क्रमिक (Regular) तथा छोटे होते हैं। उपकरणों की बाह्य रेखा भी पहले से अधिक व्यवस्थित होती है। इनके किनारे एकान्तर फलकीकरण (Alternate flaking) के कारण अंग्रेजी के 'S' के समान लगते हैं, किन्तु फलकीकरण इतना व्यवस्थित होता है कि वे टेढ़े-मेढ़े नहीं लगते। फलक चिह्नों को देखने से लगता है कि फलकीकरण बेलनाकार (Cylindrical) अथवा कोमल हथौड़े (Soft Hammer) से नियमित प्रकार से किया गया है। प्रायः इन उपकरणों पर बाह्यक (Cortex) नहीं होता है, यदि मिलता भी है, तो नगण्य मात्रा में। यह स्पष्ट है कि इन उपकरणों के निर्माण में उपयोगिता के साथ-साथ उनकी सुडौलता एवं सुन्दरता पर भी समुचित ध्यान दिया गया है। इस काल के उल्लेखनीय प्रकार के हैण्डऐक्सों (Handaxes) में अण्डाकार तथा हृदयाकार हैण्डऐक्स वर्णनीय हैं। इस प्रकार के कुछ हैण्डऐक्स ऐसे भी मिलते हैं, जिनका प्रयोग लकड़ी में मढ़कर भाले के रूप में भी किया जा सकता है।

क्लैक्टोनियन (Clactonian)

क्लैक्टोनियन नामकरण इग्लैंड की एसेक्स काउंटी (Essex County) के क्लैक्टन-आन-सी (Clacton-on-sea) नामक स्थान पर किया गया है। फलक उपकरण परम्परा के ये प्राचीनतम उपकरण हैं। प्रायः इतिहासकारों की धारणा है कि मिण्डेल-रिस हिम प्रत्यावर्तन काल (Mindel-riss Interglacial Period) में इसका प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ। क्लैक्टोनियन फलक बहुत अंशों में एबेवीलियन उद्योग में प्राप्त फलकों के समान लगते हैं। दोनों को एक दूसरे से अलग करना सरल नहीं है। उनकी एकरूपता अथवा सादृश्यता का प्रमुख कारण दोनों के निर्माण में समान प्रकार की प्रविधियों का उपयोग है। क्लैक्टन प्रकार के फलक भी प्रत्यक्ष संघात विधि—स्थिर अथवा चलायमान हथौड़ा पद्धति—से निकाले जाते थे। फलतः इस प्रकार के फलकों में आघात-स्थल अकृत्रिम अथवा प्राकृतिक होता है। आघात का अर्धशंकु विकसित, बड़ा तथा गोलाकार होता है तथा फलक का कोण ९०° से अधिक प्रायः १२०° के लगभग होता है। क्लैक्टन फलकों के दूसरी ओर स्थान-स्थान पर बाह्यक विद्यमान रहता है। अधिकांशतया इस प्रकार के फलकों पर पुनर्गठन नहीं मिलता है। क्लैक्टन फलकों के कोर भी अपेक्षाकृत बृहदाकार तथा अनगठित होते हैं तथा उन पर गहरे फलक चिह्न होते हैं।

लेवालायसियन अथवा लेवालेवा (Levalloisian)

इसका नामकरण फ्रांस में पैरिस के एक उपनगर लेवालेवा पैरेट (Levallois Perret) के आधार

पर पड़ा है। फलक उपकरण पद्धतियों में लेवालेवा सबसे विकसित अवस्था के फलक उपकरणों का द्योतन करते हैं। यदि कहा जाए कि सम्पूर्ण उपकरण निर्माण प्रविधियों में ये सबसे अधिक विकसित थे, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार के फलक मिण्डेल-रिस हिम प्रत्यावर्तन (Mindel-riss Interglacial) के अन्तकाल से यूरोप में मिलने लगते हैं। उसके बाद इस प्रविधि का प्रयोग निरन्तर उत्तर पाषाण काल तक अपने परिवर्तित रूपों में मिलता रहता है। भारत में इस प्रविधि के प्रयोग के प्रमाण पूर्व पाषाण काल से मिलने लगते हैं, किन्तु इसका चरम विकास उच्च-पूर्व पाषाण काल (Upper Palaeolithic Period) में होता हैं। कुछ विद्वानों की धारणा थी कि भारत में पूर्ण विकसित लेवालेवा उद्योग के प्रमाण नहीं मिलते हैं, किन्तु उनका यह विचार अथवा मत आधारहीन है।
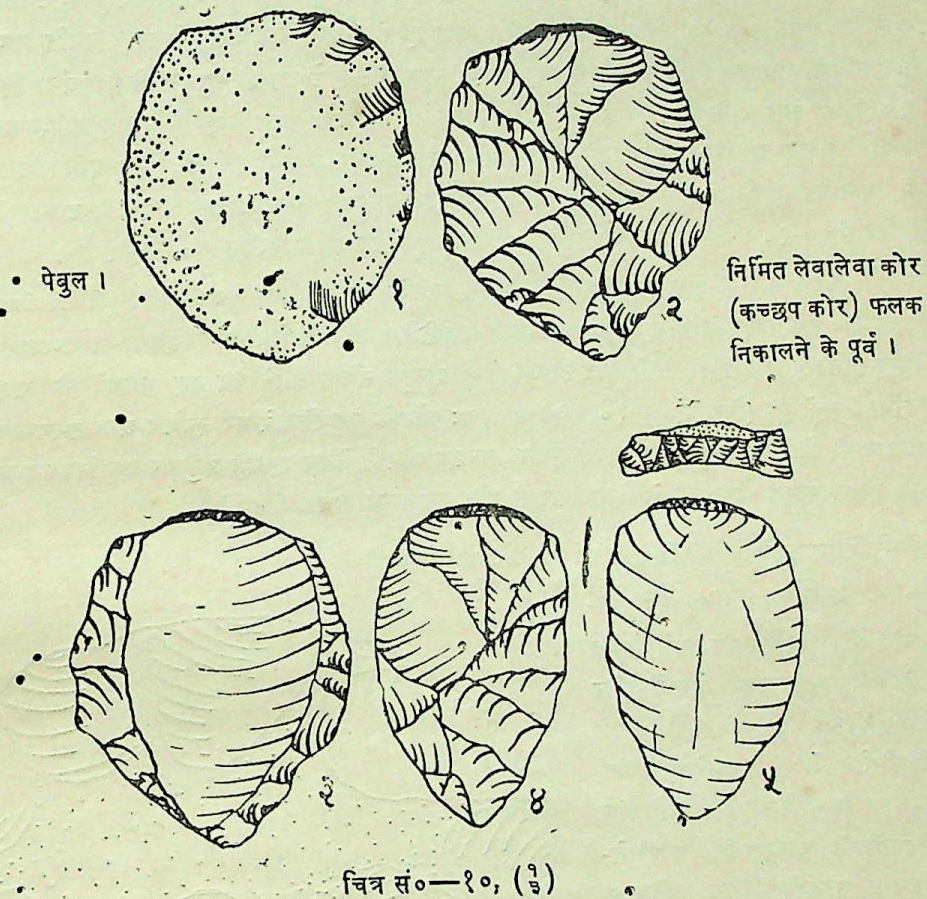
चित्र सं०—१०, (१/३)

३, लेवालेवा कोर, फलक निकालने के बाद। ४ तथा ५, लेवालेवा फलक का पृष्ठ तथा उदरपक्ष।

लेवालेवा फलक निकालने के लिए प्रायः अण्डाकार अथवा गोलाकार सपाट पेबुल अथवा पत्थर का टुकड़ा सतर्कतापूर्वक चुना जाता था (चित्र सं०—१०—१)। पेबुल के जिस तल से प्रमुख फलक निकालना है उधर सभी किनारों से **केन्द्रोन्मुख संघात** (Centrally Directed Percussion) के द्वारा छोटे-छोटे फलक इस विधि से निकाले जाते हैं कि उनके फलक चिह्न कोर के मध्य में एक-दूसरे से मिल

(चित्र सं०—१०—२)। इस प्रकार कोर को सभी किनारों से समतल कर लेने के बाद, जिस प्रकार का प्रमुख फलक निकालना है उसकी रूप-रेखा कोर के ऊपर तराश ली जाती है। तदुपरान्त, जिस स्थान से फलक निकालना है वहाँ पर बहुत छोटे-छोटे फलक निकाल कर आघात स्थल बनाया जाता है (चित्र सं०—१०—२ के शीर्ष भाग के समान)। फिर बेलनाकार अथवा कोमल हथौड़ा पद्धति अथवा अप्रत्यक्ष संघात विधि से फलक निकाल लेते हैं। इस विधि से फलक निकालने के फलस्वरूप संघात का अर्धशंकु अविकसित तथा सपाट होता है। फलक का कोण लगभग ९०° का होता है। फलक का पृष्ठ पूर्णतः गढ़ा होने के कारण उस पर बाह्यक (Cortex) नहीं होता है तथा फलक-चिह्न, किनारे की ओर से केन्द्रोन्मुख दिशा में निकालने के कारण, फलक के मध्य में एक-दूसरे से मिलते हुए लगते हैं (चित्र सं०—१०—४)। फलकीकरण चूंकि बेलनाकार अथवा कोमल हथौड़ा पद्धति से होता है, इसलिए फलक-चिह्न छोटे तथा छिछले होते हैं। ऐसा लगता है कि उसे केवल छील दिया हो। संघात के अर्धशंकु के ऊपर अर्थात् आघात-स्थल पर कृत्रिम आघात-स्थल बनाने के प्रमाण स्वरूप बहुत छोटे-छोटे फलक-चिह्न मिलते हैं (जैसा चित्र सं०—१० में ४ तथा ५ के शीर्ष भाग में है), इसे फलकित आघात-स्थल कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी लेवालेवा प्रकार के उपकरणों में आघात-स्थल को बनाने के प्रमाण मिलें, किन्तु अधिकांश उपकरणों में इसके प्रमाण मिलते हैं। लेवालेवा फलक साधारणतया पतले त्रिकोणात्मक अथवा अण्डाकार से होते हैं (चित्र सं०—१०-४-५)। लेवालेवा फलक पर प्रायः पुनर्गठन की आवश्यकता नहीं होती है।

जिस कोर से लेवालेवा प्रकार के फलक निकाले जाते हैं, उसे **कच्छप कोर** (Tortoise Core) कहते हैं। इस प्रकार के कोर, प्रायः, अण्डाकार से होते हैं। कोर के बीचो-बीच छिछला-सा अण्डाकार फलक-चिह्न होता है और उसके सभी ओर किनारे से केन्द्रोन्मुख संघात से निकाले गए फलकों के फलक-चिह्न वर्तमान रहते हैं (चित्र सं०—१०—३)। प्रायः कोर के एक किनारे पर कृत्रिम आघात-स्थल बनाने के प्रमाण भी विद्यमान रहते हैं। साधारणतया कच्छप कोर से केवल एक ही प्रमुख फलक निकाला जा सकता है। दूसरा फलक निकालने के लिए फिर से कोर बनाना आवश्यक होता है।

मौस्तेरियन प्रविधि (Mousterian Technique)

मौस्तेरियन प्रविधि का नामकरण दक्षिण-पश्चिम फ्रांस में दार्दोन (Dordogne) नामक प्रदेश में वेजेर नदी (Vezere River) के किनारे ला मौस्तेर (Le Moustier) नामक गुहा पर आधारित है। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि मौस्तेरियन संस्कृति का विकास मध्य-पूर्व पाषाण काल (Middle Palaeolithic) में हुआ होगा। वास्तव में लेवालेवा तथा मौस्तेरियन कुछ काल तक समकालीन रहे होंगे,
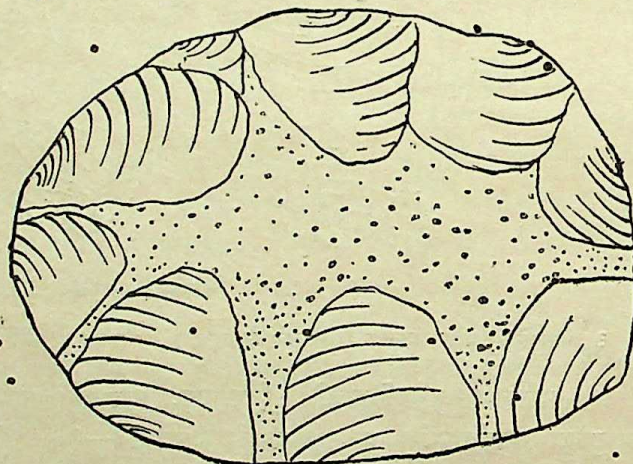
चित्र सं०—११—मौस्तेरियन कोर, (१/२)

किन्तु दोनों में सह-सम्बन्ध के स्तरीय प्रमाण नहीं मिलते हैं। मौस्तेरियन तथा लेवालेवा बहुत अंशों में देखने में एक से लगते हैं, किन्तु वास्तव में ये एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। मौस्तेरियन जिन्हें डिस्क्वायड कोर (Discoid Core) भी कहते हैं, कभी-कभी कच्छप कोर के सदृश लगते हैं, किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मौस्तेरियन प्रविधि के अनुसार फलक निकालने के लिए बड़ा सपाट फलक (Flat-flake) अथवा सपाट पत्थर या पेबुल चुनते हैं। उसके चारों ओर केन्द्रोन्मुख दिशा में निकाले गए फलकों के फलक-चिह्न होते हैं और बीच का भाग सपाट तथा बिना गढ़ा हुआ होता है, जिसके ऊपर बाह्यक (Cortex) विद्यमान रहता है। लेवालेवा तथा मौस्तेरियन दोनों कोरों में केन्द्रोन्मुख संघात द्वारा किनारे से फलक निकालते हैं। किन्तु लेवालेवा या कच्छप कोर में फलक-चिह्न कोर के बीच में मिलते हैं। जब कि डिस्क्वायड कोर (Discoid Core) में फलक केवल किनारे-किनारे से निकाले जाते हैं वे बीच में नहीं मिलते हैं। कच्छप कोर में इस प्रकार के फलक कोर को बनाने के लिए तथा बीच के प्रमुख फलक को निकालने के लिए निकाले जाते हैं, किन्तु डिस्क्वायड कोर से निकाले गये प्रत्येक फलक पर पुनर्गठन कर के उसे उपकरण के रूप में प्रयोग करते हैं। सारांश में दोनों में फलकों को निकालने का उद्देश्य भिन्न होता है।

उपकरण

प्रागितिहास के सन्दर्भ में 'प्रस्तर उपकरण' शब्द का प्रयोग केवल ऐसे पत्थरों के लिए किया जाता हैं, जिन पर मनुष्य के कारीगरी (Human Workmanship) के प्रमाण होते हैं अथवा जिन पर उसके उपयोग के स्पष्ट चिह्न (Clear use-marks) परिलक्षित होते हैं। आकारगत समता होने पर भी ऐसे पत्थरों को उपकरण की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिन पर उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं होती हैं। प्रस्तर उपकरण, प्रागैतिहासिक मानव-जीवन एवं संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान के सबसे विशिष्ट स्रोत हैं। यों तो प्रागैतिहासिक मानव ने अपनी सुरक्षा के लिए नाना प्रकार की वस्तुओं—लकड़ी, हड्डी आदि का प्रयोग किया होगा, किन्तु उनमें से अधिकांश वस्तुएँ अल्पकालिक होने के कारण नहीं मिलती हैं। पत्थर ही केवल ऐसा पदार्थ है, जो शीघ्र नष्ट नहीं होता, अतः प्रागैतिहासिक मानव के अध्ययन के लिए प्रस्तर उपकरणों का महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। मानव के विकास में प्रस्तर उपकरणों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। वास्तव में इन्हीं उपकरणों के माध्यम से वह पशुजगत् से निकलकर मानवजगत् में प्रवेश करता है। उपकरण ही उसके ऐसे अशारीरिक अवयव हैं, जिनके माध्यम से उसने प्रकृति से संघर्ष किया। इन्हीं की सहायता से उसने अपने से विशालकाय तथा शक्तिशाली जानवरों से केवल अपनी रक्षा ही नहीं की, अपितु उन पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित किया और उनकी शक्ति एवं गुणों का उपयोग अपने विकास के लिए किया।

प्रस्तर उपकरण मानव मस्तिष्क के विकास के प्रथम स्थूल प्रमाण हैं। ये उसकी विकसित होती हुई बुद्धि के परिचायक हैं। उपकरणों के विकास का अध्ययन कर हम उसके क्रमशः विकसित होती हुई बुद्धि का पर्यवेक्षण कर सकते हैं। जिस दिन स्वयं टूटे पत्थर अथवा नदियों की घाटी में पड़े हुए पेबुल को मानव ने अपनी रक्षा के लिए उठाया होगा अथवा किसी वस्तु को तोड़ने-काटने के लिए उपयोग किया होगा वह दिन मनुष्य के विकास के इतिहास में सुवर्ण-दिवस था। यदि हम यह कहें कि चाँद पर विजय के लिए उसका वह प्रथम चरण था, तो अतिशयोक्ति न होगी। विकास की दिशा में उठाया हुआ वह चरण अब भी गतिशील है और जब तक मानव का अस्तित्व रहेगा वह क्रियाशील रहेगा। प्रागैतिहासिक उपकरणों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार पूर्व-पाषाण काल के सरलतम उपकरणों से क्रमशः उसके उपकरण जटिल होते गए। आदि काल में वह स्वयं टूटे हुए पत्थरों का उपयोग उपकरण के रूप में करता रहा होगा। कालान्तर में जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ने लगी होगी वैसे-वैसे उसने नये प्रकार के उपकरणों तथा उपकरण निर्माण-प्रविधियों का आविष्कार निरन्तर प्रयोगों से किया होगा। केवल उपयोगिता के दृष्टिकोण से बनाये गए एबेवीलियन हैण्डऐक्स (Abbevillian Handaxe) विकसित आशूलियन काल (Evolved Acheulian) में पहुँचते-पहुँचते उपयोगिता ही नहीं, अपितु सौन्दर्य

की वस्तु बन जाते हैं। धीरे-धीरे वह उपकरणों को गढ़ना, कई उपकरणों को मिलाकर एक उपकरण बनाना भी सीख लेता है। उपकरणों का यह विकास केवल मानव के तकनीकी उपलब्धि तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह क्रमशः जटिल होते हुए मानव मस्तिष्क का भी परिचायक है। उपकरण जहाँ मानव के बौद्धिक-विकास के परिचायक हैं वहाँ उसकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों पर भी विशेष प्रकाश डालते हैं। इनके माध्यम से उनकी सामाजिक अवस्था, रहन-सहन, आर्थिक दशा आदि सभी वस्तुओं का अनुमान किया जा सकता है। इसीलिए जीव-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए, जो महत्त्व जीवाश्मों का है वही प्रागितिहास के विद्यार्थियों के लिए उपकरणों का है। उन्हीं की सहायता से वह उनके जीवन का अध्ययन करता है। क्योंकि उपकरण प्रागैतिहासिक मानव के अशारीरिक अवयव हैं। प्रत्येक समाज के उपकरण उनके जीविकोपार्जन-विधि के अनुसार भिन्न प्रकार के होते हैं। जिन लोगों का जीवन केवल आखेट पर निर्भर था, जो आखेट तथा कृषि दोनों करते थे और जो प्रमुखतः कृषि करते थे उन सब के उपकरणों में अन्तर मिलता है। किस समाज ने आखेट में कितनी दक्षता प्राप्त कर ली थी इसका अनुमान भी उनके उपकरणों से किया जाता है। उपकरणों की विविधता तथा उनका तकनीकी विकास, समाज-विशेष की उपलब्धियों पर प्रकाश डालता है।

प्रागैतिहासिक उपकरणों का नामकरण एक अत्यन्त जटिल समस्या है। जिन लोगों ने इन उपकरणों का निर्माण किया था और प्रयोग करते थे वे कभी के विलुप्त हो चुके हैं। कुछ काल पूर्व तक संसार के कुछ भागों में अनेक समाज पाषाणयुगीन आर्थिक दशा (Stone Age Economy) में थे, किन्तु सभ्यता के क्रमिक प्रसार के साथ वे भी विलुप्त हो गए हैं। अतः उनके प्रयोगों को भी नहीं देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रागैतिहासिक उपकरणों के उपयोग की कल्पना करना कठिन है। जिन विद्वानों ने आदिम निवासियों के उपकरणों का अध्ययन किया है, उन्होंने उनकी परम्परानुसार उपकरणों का नामकरण करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने उपकरणों का नामकरण उनके सम्भावित प्रयोगों के आधार पर भी किया है। किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत भ्रामक है। उनका वास्तविक प्रयोग क्या था इसकी उचित कल्पना करना सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रागैतिहासिक मानव के, विशेषतः पूर्व पाषाण काल के, उपकरण विशिष्ट (Specialised) उपकरण नहीं थे। उनका प्रयोग अनेक प्रकार से किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में वे बहुधंधी उपकरण थे, अतः किसी कार्य-विशेष के आधार पर उनका नामकरण करने से केवल आंशिक स्वरूप तथा कार्य का ही बोध होता है। ऐसी स्थिति में नामकरण केवल उसके सम्भावित प्रयोग के आधार पर करना अनुचित होगा। इस दृष्टिकोण से उपकरणों का नामकरण उनके आकार-प्रकार तथा कार्यांग के आधार पर करना अधिक उचित होगा। पेटरसन ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास बहुत पहले ही किया था।[1]

निम्न-पूर्व या प्रारम्भिक पाषाणकालीन प्रस्तर उपकरण

निम्न-पूर्वपाषाण काल के सम्पूर्ण प्रस्तर उपकरणों को प्रायः तीन प्रमुख उद्योगों में विभाजित किया जाता है। वे निम्नलिखित हैं—

---

१. पेटरसन, टी० टी०—"प्रोसीडिंग आफ़ दी प्री-हिस्टारिक सोसायटी", खण्ड ३, १९३७, पृ० ९३।

१—पेबुल उपकरण उद्योग (Pebble-tool Industry)
२—कोर-उपकरण उद्योग (Core-tool Industry)
३—फलक-उपकरण उद्योग (Flake-tool Industry)

पेबुल उपकरण उद्योग (Pebble-tool Industry)

पेबुल उपकरण उन प्रस्तर उपकरणों को कहते हैं, जो पेबुल पर बनें होते हैं। पेबुल ऐसे पत्थरों को कहते हैं, जो नदियों में बहने एवं ढुलकने के कारण चिकने हो जाते हैं। किनारों के घिसने के कारण वे गोलाकार अथवा अण्डाकार से हो जाते हैं।

जब किसी स्थान पर केवल, अथवा बहुसंख्यक पेबुल उपकरण मिलते हैं तब उस उपकरण समुदाय (Tool-assemblage) को पेबुल उद्योग की संज्ञा प्रदान करते हैं। संसार के अधिकांश क्षेत्रों में पेबुल उपकरण प्रायः निम्नतर स्तरों से मिले हैं। ऐसे उद्योगों में युगाण्डा (Uganda) के काफुअन (Kafuan), केनिया (Kenia) के ओल्डोवन (Oldowan), दक्षिणी अफ्रीका के प्री-स्टेलेनबाश, (Pre-stellenbosch) आदि की गणना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त पंजाब के सोहन (Soan), चीन (China) के चौकोतियाँ (Choukotian), बर्मा के एनियाथियाँ (Anyathian) तथा जावा के पटजिटेनियन (Petjitenian) आदि भी उल्लेखनीय हैं।

पेबुल उद्योग के स्वरूप एवं विकास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। यद्यपि पेबुल उपकरण संसार के सभी क्षेत्रों से निम्नतर स्तरों से प्राप्त हुए हैं, किन्तु उद्योग के रूप में इनका विकास बहुत सीमित क्षेत्रों में हुआ। काफुअन तथा ओल्डोवन के निम्नतर स्तरों से पेबुल उपकरण मात्र मिलते हैं। बाद में उनका विकास हैण्डऐक्स उद्योग में होता है। किन्तु उत्तरी भारत की सोहन घाटी में, चीन के चौकोतियाँ, बर्मा के एनियाथियाँ तथा जावा के पटजिटेनियन में उनका विकास हैण्डऐक्स में नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन दोनों उद्योगों में एक और अन्तर है। काफुअन तथा ओल्डोवन दोनों के ही पेबुल उद्योगों में फलक उपकरणों की संख्या नगण्य है। दक्षिणी भारत में पेबुल उपकरण तथा हैण्डऐक्स तो साथ अवश्य मिलते हैं, किन्तु फलक तत्त्व अफ्रीका के ही समान नगण्य हैं। सोहन घाटी तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के पेबुल उद्योगों में प्राकृतिक तथा कृत्रिम आघात-स्थल वाले फलक बहुतायत से मिलते हैं। किन्तु बाद में क्रमशः फलक तत्त्व का आधिक्य हो जाता है। जब दोनों ही प्रकार के उपकरण एक साथ मिलते हैं तब यह बताना कठिन हो जाता है कि उसमें कितना तत्त्व एक का और कितना दूसरे का है?

भारत में सोहन तथा दक्षिण में मद्रास के उद्योगों का अन्तर बहुत स्पष्ट है। अतः इन्हें प्रायः विभिन्न दो धाराएँ माना जाता है। किन्तु ऐसी स्थिति मानने पर अनेक मौलिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। दोनों उद्योगों का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? क्या पेबुल उद्योग से कालान्तर में हैण्डऐक्स उद्योग का विकास हुआ है जैसा, ओल्डोवन में मिलता है? यदि यह सत्य है, तो सोहन में हैण्डऐक्स का विकास क्यों नहीं हुआ? फलक तत्त्व की प्रधानता क्यों है? यदि दो विभिन्न संस्कृतियाँ हैं, तो उनका मिलन-

स्थल कौन-सा है ? ये एक दूसरे से कब मिलती हैं ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर आवश्यक है । किन्तु यहाँ इन प्रश्नों पर विचार करना सम्भव नहीं है । इन पर विस्तृत विचार अन्यत्र किया गया है ।[1]

सोहन घाटी के सन्दर्भ में डी० टेरा तथा पेटरसन ने सर्वप्रथम पेबुल उपकरणों को 'पेबुल चॉपिंग तथा स्क्रैपिंग (Pebble Chopping and Scraping) उपकरण[2] और सोहन तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के सन्दर्भ में मोवियस ने चॉपर' चॉपिंगुपकरण (Chopper-Chopping) शब्दों का प्रयोग किया था ।[3] सम्भवतः डीटेरा तथा मोवियस दोनों ही विद्वानों ने इन उपकरणों का नामकरण प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से ही किया था । बाद में सभी ने इनका केवल अन्धानुकरण ही किया ।

चॉपर (Chopper)
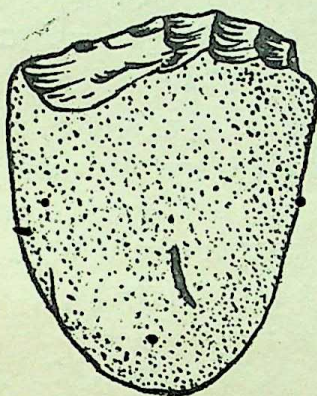
चित्र सं०—१२, चॉपर (½)

मोवियस ने चॉपर की परिभाषा इस प्रकार की है 'विशाल, रुक्ष स्क्रेपर तथा कोर पर बने विशालकाय स्क्रेपरों को चॉपर कहते हैं ।' इन एकपक्षीय उपकरणों (Unifacial Tool) का कार्यांग गोलाकार, अर्ध-अण्डाकार या लगभग सीधा होता है ।[4] एकपक्षीय (Unifacial) उपकरण ऐसे उपकरणों को कहते हैं, जिनका कार्यांग बनाने के लिए फलकीकरण (Flaking) एक ही पक्ष से करते हैं ।'

मोवियस की इस परिभाषा के अनुसार साधारण पेबुल स्क्रेपर तथा चॉपर में केवल आकार का अन्तर होता है । दोनों ही एकपक्षीय तथा पेबुल पर बने होते हैं तथा कार्यांग गोलाकार, अर्ध-अण्डाकार या लगभग सीधा होता है ।

---

१. पुस्तक के द्वितीय भाग में इन प्रश्नों पर विचार किया गया है ।

२. डी०, टेरा, पेटरसन—स्टडीज आन आइस एज इन इण्डिया एण्ड एसोशियेटेड ह्यूमन कल्चर्स, १६३६, कानगी इंस्टीट्यूट आव वाशिंगटन, पृ० ३०५ ।

३. मोवियस, एच० एं० एल०—दी लोअर पेलियोलिथिक कल्चर्स आव सदर्न-ईस्टर्न एशिया, ट्रा०, अ०, फिल्, सो०, भाग ३८, १९४८, अंक ४; वाशिंगटन, पृ० ३५० ।

४. "Large, crude scrapers and massive scrapers made on cores are called choppers' Unifacial tool has a round, semi-oval or almost straight cutting-edge"—मोवियस, एच० ए० एल०—"पेबुल-टूल टर्मिनालजी इन इण्डिया ऐण्ड पाकिस्तान", "मैन इन इण्डिया", भाग ३७, जन०-मार्च १९५७, न० २, पृ० १५१ ।
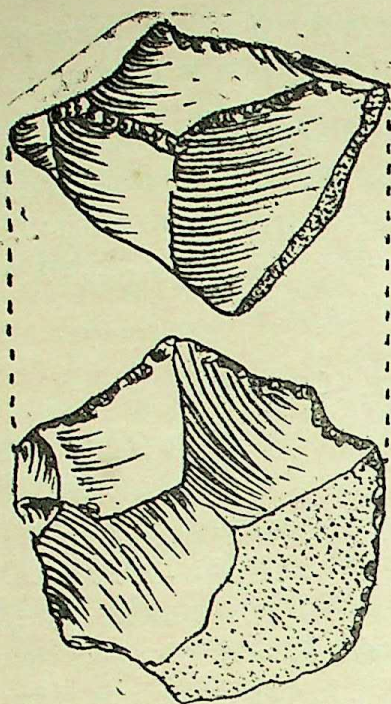
चित्र सं०—१३, चॉपिंगुपकरण (१/२)।

चॉपिंगुपकरण (Chopping Tool)

मोवियस के अनुसार यह एक उभयपक्षीय उपकरण है तथा कार्यांग दोनों पक्षों (Faces) से एकान्तरतया फलक निकालने से बनता है। इस विधि से फलक निकालने के कारण ही उपकरण का कार्यांग टेढ़ा-मेढ़ा 'कुल्हाड़ी के सामन' हो जाता है।[१]

रशन (Russian) में इसे स्क्रेबको (Skrabko) कहते हैं। कार्यांग के निकटवर्ती स्थानों को छोड़कर अधिकांश स्थानों, विशेषतः ऊपर के भागों में पेबुल बाह्यक (Cortex) विद्यमान रहता है।

सारांश में, चॉपिंगुपकरण उभयपक्षीय उपकरण है। इसका कार्यांग दोनों पक्षों से एकान्तरतया फलक निकालने से बनता है। कार्यांग लहरदार अंग्रेजी के 'W' के समान, सीमित तथा एक ही होता है।

पेबुल स्क्रेपर (Pebble Scraper)

मोवियस के अनुसार छोटा चॉपर ही स्क्रेपर होता है। दोनों एकपक्षीय होते हैं। अन्तर केवल आकार का ही होता है।

अभी हाल तक भारत में पेबुल उपकरणों के लिए डी० टेरा तथा पेटरसन और मोवियस की नामावली ही प्रचिलित थी। इन विद्वानों ने नामकरण उपकरणों के सम्भावित प्रयोग को ध्यान में रख कर किया था। इस आधार पर किया गया कोई भी नामकरण व्यापक नहीं हो सकता है। कुछ समय पूर्व पेटरसन तथा ड्रमण्ड[२] ने सोहन घाटी में पाकिस्तान सरकार की ओर से कार्य किया था। उन्होंने सोहन घाटी से प्राप्त उपकरणों का नामकरण उनके आकार तथा निर्माण प्रविधि के आधार पर किया है। सम्पूर्ण उपकरणों को, निम्नलिखित तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है—

(अ) समतलीय (Flat-bases)
(ब) आक्षिक (Oblates)
(स) केन्द्रक (Nucleates)

---

१. "Alternately flaked edge—single edged bifacial tools with an irregular, axe-like cutting edge."—वही, पृ० १५२।

२. पेटरसन, टी० टी० एण्ड ड्रमण्ड—वही १९६२, पृ० ५४१।

(अ) समतलीय (Flat Bases)

इस प्रकार के उपकरणों का एकपक्ष चौरस या समतल होता है। वह कृत्रिम तथा अकृत्रिम दोनों प्रकार का हो सकता है। ध्यानपूर्वक देखने पर प्रायः पेबुल के एक पृष्ठ पर हथौड़े तथा दूसरी तरफ निहाई के सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु इस प्रकार के प्रमाण नदी की घाटी में प्राकृतिक रूप से टूटे हुए पेबुल पर भी मिल सकते हैं। अतः यह कहना कठिन है कि कौन सा पेबुल कृत्रिम रूप से तोड़ा गया है और कौन-सा प्राकृतिक रूप से टूटा है। पेबुल के टूटे किनारे से गोलाकार किनारे की दिशा में तल से ६०° से ८०° का कोण बनाते हुए फलक निकाले जाते हैं। फलतः कार्यांग प्रायः उन्नतोदर (Convex) अथवा लगभग सीधा (Almost Straight) बनता है। नतोदर (Concave) कार्यांग बहुत कम होता है। चौरस तल (Flat Base) से एक दिशा में, प्रस्तर-हथौड़े से अनियमित फलकीकरण पद्धति से फलकीकरण किया जाता है। ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि प्रायः धार को तेज करने के लिए उन पर पुनर्गठन भी करते थे। पेबुल के आकार के अनुसार उपकरण, गोलाकार, अण्डाकार अथवा नौकाकर (Boat-shaped) हो सकते हैं।
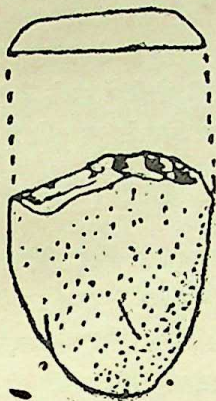
चित्र सं०—१४, अन्तस्थ समतल उपकरण (१/३)

समतलीय उपकरण तीन प्रकार के होते हैं—

१—प्रथम प्रकार के उपकरणों को **अन्तस्थ समतल उपकरण** (Terminal Flat Base) कहते हैं। इस प्रकार के उपकरण प्रायः अण्डाकार होते हैं। इनका एक अन्त बेड़ी दिशा में टूटा होता है। कार्यांग प्रायः सीधा, किन्तु, उन्नतोदर भी हो सकता है।

२—द्वितीय प्रकार के उपकरण को **एक पार्श्वीय समतल उपकरण** (Uni-lateral Flat Base) कहते हैं। इसमें अण्डाकार पेबुल लम्बान के समानान्तर दिशा में टूटा होता है। इसमें एक पार्श्व से अनियन्त्रित फलकीकरण विधि में फलक निकालते हैं।
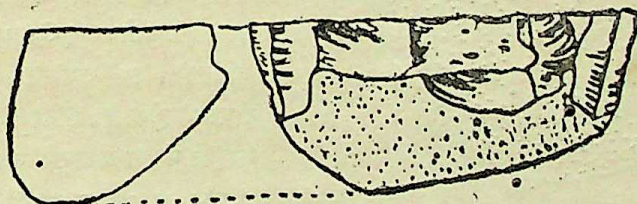
चित्र सं०—१५, एक पार्श्वीय समतल उपकरण (१/२)

३—तीसरे प्रकार के उपकरण को **द्विपार्श्वीय समतल उपकरण** (Bi-Lateral Flat Base) कहते हैं। यह द्वितीय प्रकार के समान ही होता है। अन्तर केवल इतना है कि द्वितीय प्रकार में पेबुल के केवल एक पार्श्व से, किन्तु इसमें दोनों पार्श्वों से इस प्रकार से फलक निकालते हैं कि दोनों ओर अन्त में नोंक

(Point) बन जाता है। इस उपकरण के सभी किनारों से फलक निकाले जाते हैं। इस प्रकार से बनाये गए उपकरण की आकृति नौका के सम्मन (Boat shaped) लगती है। किनारे पर प्रायः सोपान-पद फलकीकरण (Step Flaking Technique) के प्रमाण मिलते हैं। सम्भवतः इस प्रकार का फलकीकरण प्रयोग के कारण भुथड़े किनारे को फिर से तेज़ करने के लिए किया जाता था।
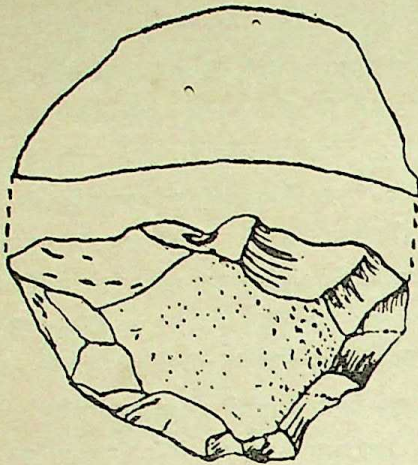
चित्र सं०—१६, द्विपार्श्वीय समतल उपकरण (१/२)

प्रायः समतल पेबुल उपकरण को भी फलक उपकरणों की श्रेणी में रखते हैं, क्योंकि ये दोनों ही कोर से निकाले हुए होते हैं।

(ब) आक्षिक उपकरण (Oblates)

ये अण्डाकार पेबुल से भिन्न होते हैं तथा अपेक्षाकृत पतले, समतल तथा किनारों पर चिपटे होते हैं। यदि छिछली तश्तरियाँ (Shallow Saucers) किनारे से किनारे मिलाकर एक दूसरे के ऊपर उलटकर रखी जायँ, तो बहुत अंशों में वह आक्षिक उपकरण (Oblate) का रूप धारण करेंगी। चूँकि पेबुल अपेक्षाकृत पतले होते हैं, अतः फलक, नीचे के चौरस तल से ऊपर की ओर बहुत संकरा कोण बनाते हुए निकाले जाते हैं। आक्षिक दो प्रकार के होते हैं—

१—उन्नतोदर कार्यांग आक्षिक (Convex Oblate)
२—नुकीला कार्यांग आक्षिक (Pointed Oblate)

१—उन्नतोदर कार्यांग आक्षिक उपकरण
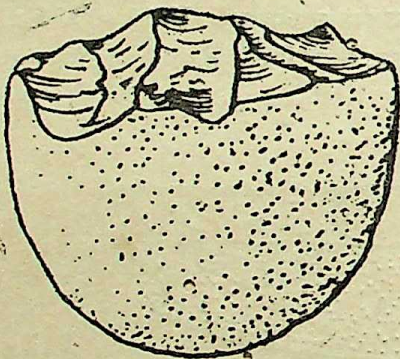
चित्र सं०—१७, उन्नतोदर कार्यांग आक्षिक उपकरण (१/२)

इस प्रकार के उपकरण गोलाकार अथवा अण्डाकार होते हैं। लगभग आधी परिधि तक एक पक्षीय फलकीकरण इस प्रकार से करते हैं कि उन्नतोदर (Convex) कार्यांग बन जाता है। कभी-कभी इसका कार्यांग एकदम सीधा भी होता है। एनियाथियाँ (Anyathian) संस्कृति में इस प्रकार के नतोदर (Concave) कार्यांग के भी उपकरण मिलते हैं जिनमें फलकीकरण प्रायः पृष्ठपक्ष (Dorsal) से करते थे।

उन्नतोदर कार्यांग आक्षिक उपकरण बहुत अंशों में समतल उपकरणों (Flat Bases) के समान ही लगते हैं। अन्तर केवल इतना है कि समतलीय में फलक पेबुल के टूटे किनारे से निकालते हैं, किन्तु इनमें पेबुल के बाह्यक-युक्त (Cortexed) सतह से।

२—नुकीला कार्यांग आक्षिक उपकरण

इसमें चौरस अण्डाकार पेबुल के एक अन्त के दोनों पार्श्वों से एकपक्षीय फलकीकरण इस प्रकार से करते हैं कि एक अन्त नुकीला हो जाता है तथा बीच में एक उभरी रेखा बन जाती है। यह बहुत अंशों में प्रारम्भिक आशूलियन हैण्डऐक्स (Acheulian Handaxe) के समान लगता है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही होता है कि आशूलियन हैण्डऐक्स में उभयपक्षीय फलकीकरण होता है, किन्तु इनमें फलकीकरण दोनों पक्षों (Faces) से न होकर एक ही पक्ष के दोनों पार्श्वों से होता है। ये प्रायः उभयपक्षीय (Bi-facial) उपकरण का धोखा देते हैं।
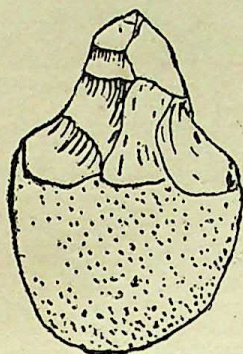
चित्र सं०—१८, नुकीला कार्यांग आक्षिक उपकरण (१/३)

केन्द्रक (Nucleates)

इसका प्रयोग ऐसे पेबुल उपकरणों के लिए किया गया है, जो प्रायः अण्डाकार (Oval) या आक्षिक (Oblate) होते हैं। इनमें फलकीकरण दोनों पक्षों—उदरपक्ष (Ventral) तथा पृष्ठपक्ष (Dorsal) से एकान्तरतया (Alternately) करते हैं—ऐसे उपकरण को उभयक्षीय (Bi-facial) उपकरण भी कह सकते हैं, क्योंकि फलकीकरण क्रमशः दोनों पक्षों से होता है। फलकीकरण में एक के फलक चिह्न (Flake Scar) को दूसरे फलक का आघात-स्थल (Striking Platform) मानकर फलकीरण करते हैं। दूसरे शब्दों में, फलकीकरण सोपान-पद फलकीकरण विधि के अनुसार होता है। दोनों ओर से फलक निकालने से जहाँ पर दोनों फलक-चिह्न मिलते हैं वहाँ किनारा टेढ़ा-मेढ़ा-सा बनता हैं। सोहन के प्रारम्भिक उपकरणों में किनारा अधिक टेढ़ा-मेढ़ा होता है, किन्तु बाद में वह इतना अधिक टेढ़ा-मेढ़ा नहीं मिलता है। चूँकि इन पर एक आकार के नियमित फलक चिह्न मिलते हैं, अतः अनुमान है कि ये निश्चित रूप से उपकरण ही होंगे। जिनमें फलक क्रम से नहीं निकाले गये हैं वे प्रायः कोर का भ्रम करते हैं। हो सकता है कि प्रारम्भ में इस प्रकार के उपकरण कोर मात्र रहे हों और बाद में उनका प्रयोग उपकरण के रूप में किया गया हो। बहुत से इस प्रकार के उपकरणों में प्रयोग तथा पुनर्गठन के भी प्रमाण मिलते हैं।

एक पार्श्वीय केन्द्रक (Uni-lateral Nucleates)

इस प्रकार के उपकरणों में कार्यांग उपकरण की एक भुजा में ही सीमित रहता है।

चित्र सं०—१९, एक पार्श्वीय केन्द्रक (१/३)

परिधीय केन्द्रक (Peripheral Nucleates)

इस प्रकार के उपकरणों में कार्यांग पेबुल की पूरी परिधि पर रहता है। केन्द्र में दोनों पृष्ठों पर बाह्यक (Cortex) विद्यमान रहता है। कभी-कभी ये अपूर्ण कच्छप कोर (Unfinished Tortoise Core) का

भ्रम उत्पन्न करते हैं। बहुत सम्भव है कि इनमें से कुछ वास्तव में कोर रहे हों। किन्तु जिनमें प्रयोग अथवा पुनर्गठन के प्रमाण स्पष्ट मिलते हैं, उनके विषय में दो मतों की सम्भावना नहीं की जा सकती है।
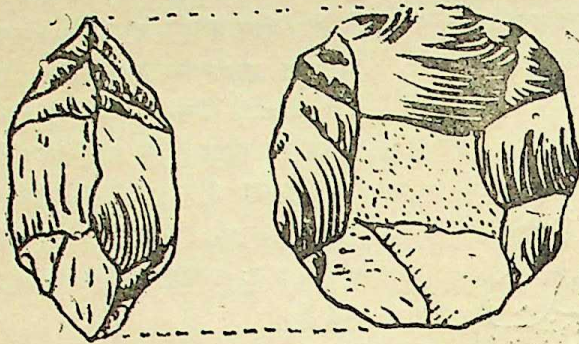
चित्र सं०—२०, परिधीय केन्द्रक ($\frac{1}{2}$)

कच्छप-पृष्ठ (Turtle-back)

यह एक असामान्य उपकरण है, जिसमें समतल तथा केन्द्रक दोनों की विशेषताएँ तथा निर्माण प्रविधियों में समता मिलती है। इसमें गोलाकार अथवा अण्डाकार पेबुल बेड़ी ओर से तोड़ा जाता है तथा परिधि के सभी ओर से, केवल टूटे तरफ से नहीं अपितु जिधर बाह्यक (Cortex) है उधर से टूटे भाग के आरपार फलक निकाले जाते हैं।

चित्र सं०—२१, कच्छप-पृष्ठ ($\frac{1}{3}$)

इस प्रकार का उपकरण छोटे फलक निकालने का कोर भी हो सकता है, किन्तु इस की अधिक सम्भावना नहीं मानी जा सकती, क्योंकि प्रायः फलक चिह्न नियमित तथा एक आकार के मिलते हैं।[1]
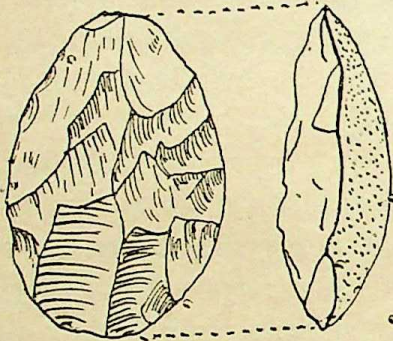
पेटरसन तथा ड्रमण्ड का उपर्युक्त प्रयोग इस दृष्टि से सराहनीय है कि उन्होंने एक नयी विधि से सोहन उपकरणों को समझने का प्रयास किया है। उनका वर्गीकरण भी यद्यपि बहुत स्पष्ट नहीं है, किन्तु निश्चय ही डी० टेरा, पेटरसन तथा मोवियस के वर्गों से अधिक व्यापक है। डॉ० संकालिया की धारणा भी इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में इससे बहुत भिन्न नहीं है।[2]

पेटरसन तथा ड्रमण्ड के सभी समतल (Flat-bases) तथा आक्षिक (Oblates) उपकरण डी० टेरा

१. ऊपर दिए गए पेबुल उपकरणों का वर्गीकरण पेटरसन तथा ड्रमण्ड के 'सोहन दी पेलियोलिथिक आव पाकिस्तान' से लिया गया है। चित्र भी उन्हीं पर आधारित हैं। वही, पृ० ५४-५८।

२. संकालिया, एच० डी०—ए रिवाइज्ड स्टडी आव दी सोअन कल्चर, दी एन्थ्रोपालजिस्ट, वाल्यूम XIV, न० १, मार्च १९६७, पृ० १२।

पेटरसन[1] और मोवियस के[2] चॉपर (Chopper) तथा केन्द्रक (Nucleates), चापिगुपकरण (Chopping Tools) के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं।
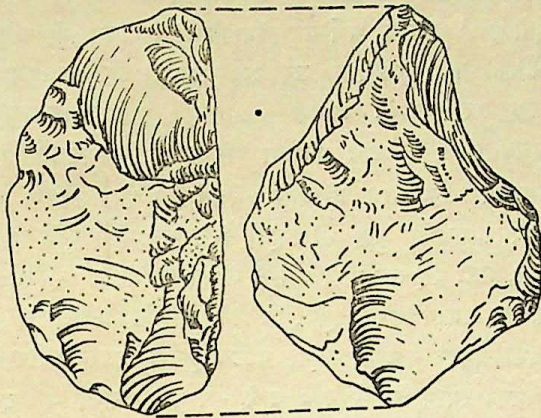
रौस्ट्रोकैरीनेट (Rostrocarinate)

यह भी एक प्रकार का पेबुल उपकरण है, जिसका एक पक्ष सपाट तथा दूसरा पक्ष थोड़ा गोलाकार होता है। नीचे की सतह से एक बड़ा फलक तथा ऊपर के भाग में आंशिक रूप से फलक निकले होते हैं, जो एक कटक (Ridge) बनाते हैं। इसका कार्यांग नुकीला, किन्तु थोड़ा टेढ़ा अर्थात् चञ्चवाकार (Beak-like) होता है।

चित्र सं०—२२, रौस्ट्रोकैरीनेट (½)

विद्वान् रौस्ट्रोकैरीनेट तथा तत्सदृश उपकरणों को उषःकालीन प्रस्तर उपकरणों (Eoliths) के अन्तर्गत रखते हैं। ईओलिथ के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि ये वास्तव में उपकरण ही थे, किन्तु इनके आकार को देखकर कुछ विद्वानों की धारणा है कि हैण्डऐक्स का विकास इसी प्रकार के उपकरणों से हुआ होगा।

कोर तथा फलक उपकरण उद्योग

कोर पर बने उपकरण को कोर-उपकरण तथा फलक पर बने उपकरणों को फलक-उपकरण कहते हैं। जब किसी स्थान पर कोर-उपकरण समुदाय में अथवा बहुसंख्यक मिलते हैं तब उसे कोर उपकरण उद्योग (Core-tool Industry) के अन्तर्गत रखते हैं। इसी प्रकार जब फलक-उपकरण समुदाय में अथवा अधिक संख्या में मिलते हैं, तो उसे फलक-उपकरण उद्योग (Flake-tool Industry) के अन्तर्गत रखते हैं। ब्रायल (Breuil) ने दोनों उद्योगों—कोर तथा फलक—को समानान्तर तथा स्वतन्त्र धाराएँ कहा था। इसके विपरीत मोवियस[3] की धारणा है कि इस प्रकार की स्वतन्त्र तथा समानान्तर धाराओं की कल्पना बहुत उचित नहीं है, क्योंकि अफ्रीका (Africa), मध्य-पूर्व (Middle-east) तथा भारत (India) में, ये एक ही संस्कृति के अंग हैं। यूरोप में भी इनका एकदम स्वतन्त्र वर्गीकरण करना सम्भव नहीं है। यहाँ जिन उद्योगों को हम कोर उद्योग—एवेवीलियन तथा आशूलियन कहते हैं और जिन्हें फलक उद्योग—क्लेक्टोनियन तथा लेवेलेवा कहते हैं उनमें भी मिश्रित तत्त्व मिलते हैं। लेवालेवा प्रविधि का सर्वप्रथम प्रयोग हम

१. डी० टेरा ऐण्ड पेटरसन, टी० टी०—पार्श्वोद्धरित, १६३६।
२. मोवियस, एच० ए० एल०—पार्श्वोद्धरित, १६४८।
३. मोवियस, एच० ए० एल०—"ओल्ड वर्ल्ड प्री-हिस्ट्री" पेलियोलिथिक एन्थ्रोपौलेजी, टुडे (एड) क्रोबर, पृ० १६३-१६२।

आशूलियन उद्योग में ही देखते हैं। मध्य-आशूलियन से प्रारम्भ होकर यह विकसित आशूलियन में और विकसित रूप में मिलता है। जिन उपकरणों को साधारणतया विकसित आशूलियन अथवा विकसित कोर उद्योग के अन्तर्गत रखते हैं, उनमें से बहुत से वास्तव में फलक के ऊपर ही उभयपक्षीय फलकीकरण प्रविधि (Bifacial Flaking Technique) से बने होते हैं।[1] इसका अर्थ यह होगा कि जहाँ मानव को फलक सुलभ थे वहाँ कोर के स्थान पर उसने फलकों का ही प्रयोग उपकरण निर्माण निमित्त किया। यही कारण है कि बाद के उद्योगों में फलक तत्व क्रमशः अधिक मिलता है। इसी प्रकार फलक उद्योगों में कोर तत्व भी मिलते हैं। हैज़ेलडीन ने स्पष्टतः प्रदर्शित किया है कि क्लैक्टोनियन उद्योग (Clactonian Industry) में फलक-उपकरण मात्र ही नहीं मिलते हैं। इन उद्योगों का विकास इतना जटिल है कि इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना सरल नहीं है। चूँकि कोर तथा फलक में उत्पत्तिजन्य (Genetic) सम्बन्ध है, अतः यह साधारण रूप से बोधगम्य प्रतीत नहीं होता है कि तथाकथित कोर उद्योग के लोग ऐसे फलकों का प्रयोग करते होंगे, जिनको थोड़े से प्रयास से ही उपकरण में परिवर्तित किया जा सकता था। इसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि फलक उद्योग के लोग ऐसे कोरों को उपयोग में नहीं लाते होंगे, जिनका प्रयोग वे स्क्रेपर आदि के रूप में कर सकते थे। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर विचार करें, तो कोर तथा फलक उद्योगों का एकदम स्वतंत्र वर्गीकरण सार्थक तथा तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

पेबुल उपकरणों के अतिरिक्त पूर्व-पाषाण युग के प्रमुख उपकरण निम्नलिखित हैं—

हैण्डऐक्स (Handaxe)

पूर्व-पाषाणकालीन प्रस्तर उपकरणों में हैण्डऐक्स सबसे प्रमुख उपकरण हैं। हैण्डऐक्स को कू-दे-पो (Coup-de-poing) तथा बूशे (Boucher) भी कहते हैं। संसार के प्रायः सभी क्षेत्रों[2] में जहाँ कहीं भी पूर्व-पाषाणयुगीन संस्कृति के अवशेष मिले हैं वहाँ हैण्डऐक्स तथा उसके सह उपकरण भी प्राप्त हुए हैं।

हैण्डऐक्स साधारणतया अण्डाकार उपकरण होता है। कार्यांग प्रायः नुकीला किन्तु कभी-कभी थोड़ी गोलाई लिए हुए भी होता है। विशेष अवस्थाओं में यह रुखानी (Chisel) के कार्यांग के समान भी होता है। प्रारम्भिक अवस्था के हैण्डऐक्स मुख्यतः उपयोगिता की दृष्टिकोण से बनाये जाते थे, अतः वे रुक्ष होते थे। केवल कुछ फलक निकाल कर कार्यांग बना लिया जाता था और उपकरण के अन्य भागों को अनगठित छोड़ दिया जाता था, जिन पर बाह्यक (Cortex) विद्यमान रहता है। कार्यांग का विपक्षान्त जिसे समन्तान्त (Butt-end) कहते हैं, अपेक्षाकृत मोटा, गोलाकार तथा चौड़ा होता है। किन्तु कालान्तर में जैसे-जैसे उपकरण निर्माण कला में प्रागैतिहासिक मानव की प्रगति होती गई वैसे-वैसे उसके उपकरण सुन्दर और सुडौल बनने लगे। विकसित अवस्था के हैण्डऐक्स बहुत ही सुन्दर एवं सुडौल होते

---

१. सौन्दरराजन, के० वी०,—"क्वाटर्नरी पेबुल, कोर ऐण्ड फ्लेक कल्चर्स आव इण्डिया ऐन ऐपरेजल आव दि डाटा।" ए० इ० नम्बर १७, १९६१, पृ० ७१।

२. इस सन्दर्भ में दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा उत्तर-पश्चिम भारत में जहाँ प्रमुखतः सोहन प्रकार की पेबुल संस्कृति का विकास हुआ, अपवाद कहे जा सकते हैं।

हैं। फलकीकरण उनके कार्यांग तक ही सीमित नहीं रहता। उपकरण की सम्पूर्ण परिधि से, केन्द्रोन्मुख संघात द्वारा, लगभग एक आकार के फलक, क्रमशः, दोनों पृष्ठों से एकान्तरतया पद्धति से निकाल कर बनाया जाता था। ऐसे उपकरणों में समन्तान्त भी गढ़े हुए तथा सुडौल होते हैं। चूंकि सम्पूर्ण उपकरण को गढ़ा जाता है, अतः उन पर वाह्यक नहीं मिलता और उनका अनुभाग (Section) भी पतला होता है। परिधि से एकान्तरतया फलक निकालने पर भी वह टेढ़ा-मेढ़ा अथवा 'S' के समान नहीं लगता है, क्योंकि फलक बहुत छोटे और नियमित होते हैं। जिनमें वे नियमित तथा एक आकार के नहीं होते उनमें उनका किनारा लहरदार अथवा 'S' के समान लगता है।

कुछ विद्वानों ने[1] हैण्डऐक्स को कोर उपकरण के अन्तर्गत रखा है। किन्तु हैण्डऐक्सों का इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत भ्रमपूर्ण है। ये कोर तथा फलक दोनों पर समानतः मिलते हैं। बहुत विकसित आशूलियन हैण्डऐक्स प्रायः फलक पर ही बनते थे। इसके अतिरिक्त हैण्डऐक्स पत्थर के चिपटे टुकड़ों (Chunk) तथा पेबुल पर भी मिलते हैं।

आकृति एवं बनावट के आधार पर हैण्डऐक्सों का वर्गीकरण निम्नलिखित वर्गों में किया जाता है—

चित्र सं०—२३, पेबुल-समन्तान्त हैण्डऐक्स (½)

पेबुल-समन्तान्त हैण्डऐक्स (Pebble-butted Handaxe)

ऐसे हैण्डऐक्सों को कहते हैं, जिनमें अनगढ़ित समन्तान्त पर पेबुल वाह्यक विद्यमान रहता है। केवल कार्यांग बनाने के लिए फलक दोनों पृष्ठों से इस विधि से निकाले जाते हैं कि फलक चिह्नों के मिलने से नुकीला कार्यांग बन जाता है। इन हैण्डऐक्सों पर फलकीकरण बहुत सीमित तथा केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही किया जाता है। डॉ० संकालिया ने इनको नाशपात्याकृति (Pear-shaped) हैण्डऐक्सों के दर्जे में रखा है। अधिकांश ऐसे हैण्डऐक्सों को इस वर्ग में अवश्य रखा जा सकता है, किन्तु जो लम्बे तथा चिपटे पेबुल पर बनते हैं, वे इस वर्ग में नहीं रखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त केवल नाशपात्याकृति कहने से पेबुल समन्तान्त (Pebble-butt-end) का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता।

नाशपात्याकृति हैण्डऐक्स (Pear-shaped Handaxe)

प्रायः विद्वान् नाशपात्याकृति हैण्डऐक्सों के अन्तर्गत पेबुल-समन्तान्त हैण्डऐक्सों को रखते

१. मजुमदार, धीरेन्द्र नाथ तथा गोपालशरण—प्रागितिहास, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६४, पृ० ३६।

हैं।[1] दोनों के भेद को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकार के हैण्डऐक्स का पेबुल समन्तान्त गोलाकार तथा अनगढ़ित होता है और प्रायः सम्पूर्ण समन्तान्त पर कार्टेक्स विद्यमान रहता है। फलकीकरण अधिकांशतया कार्यांग तक ही सीमित रहता है। डॉ० संकालिया के अनुसार आदर्श नाशपात्याकृति हैण्डऐक्स का अनुभाग कार्यांग की ओर समचतुर्भुजाकार (Diamond-shaped) तथा समन्तान्त की ओर गोलाकार होता है।[2]
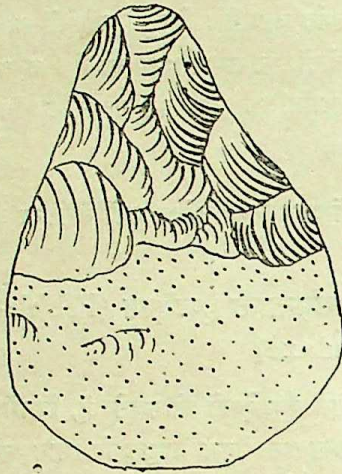
चित्र सं०—२४,
नाशपात्याकृति हैण्डऐक्स (½)
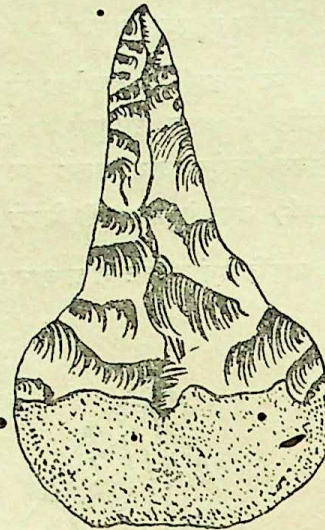
चित्र सं०—२५,
मिकोकियन हैण्डऐक्स (½)

मिकोकियन हैण्डऐक्स[3] (Micoquian Handaxe)

इसका नामकरण आकृति के आधार पर न होकर फ्रांस में स्थित ला मिकाक (La Micoquc) नामक स्थान पर किया गया है। इस प्रकार के हैंडऐक्स का समन्तान्त गोलाकार एवं कार्यांग असाधारण रूप से लम्बा तथा नुकीला होता है। भुजाएँ प्रायः नतोदर-सी होती हैं।

त्रिभुजाकार हैण्डऐक्स (Triangular Handaxe)

इस प्रकार के हैण्डऐक्स त्रिभुजाकार होते हैं। दो बड़ी भुजाएँ लगभग बराबर तथा एक भुजा

---

१. संकालिया, एच० डी०—पाश्वोंद्धरित, १९६४, पृ० ५२।

२. इस प्रकार के हैण्डऐक्सों को भी पेबुल समन्तान्त प्रकार के वर्ग में रखा जा सकता है।

३. संकालिया, एच० डी०—पाश्वोंद्धरित, १९६४, पृ० ५२।

छोटी होती है। दोनों पक्ष लगभग चौरस होते हैं, उन पर प्रायः बाह्यक भी विद्यमान रहता है। उपकरण का अनुभाग भी त्रिकोणात्मक होता है।

चित्र सं०—२६, त्रिभुजाकार हैण्डऐक्स (½)
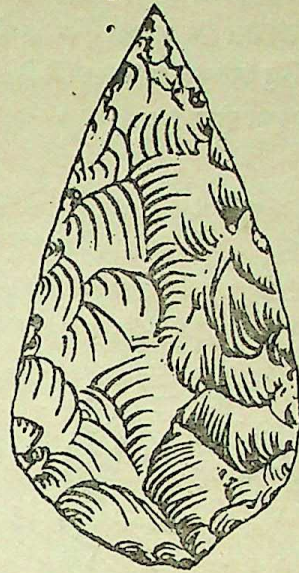
चित्र सं०—२७, बरछाकार-हैण्डऐक्स (½)

बरछाकार हैण्डऐक्स (Lanceolate Handaxe)

ये बरछे के फलक की तरह अथवा लम्बी पत्ती के समान होते हैं। दोनों भुजाएं उन्नतोदर होती हैं तथा अन्त में नोकदार कार्यांग बनाती हैं। ये बहुत पतले अनुभाग के होते हैं और अधिकांशतया लेवालेवा फलक पर ही मिलते हैं। किनारे बहुत पतले तथा-तीक्ष्ण होते हैं। भली-भाँति गढ़ित होने के कारण इन पर बाह्यक (Cortex) भी नहीं होता है।
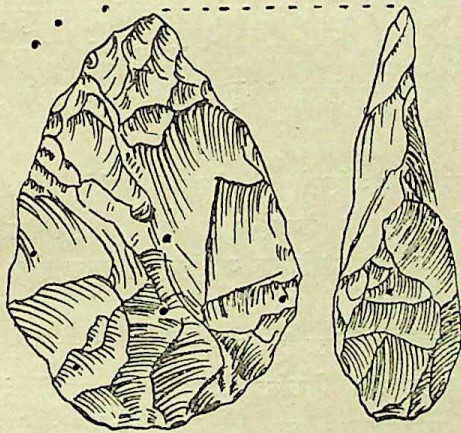
चित्र सं०—२८, बादामाकार हैण्डऐक्स (½)

बादामाकार हैण्डऐक्स (Almond-shaped Handaxe)

ये बादाम के आकार के बहुत सुडौल तथा पूर्णतः गठित होते हैं। सम्पूर्ण परिधि से एक बराबर तथा नियमित फलक एकान्तरतया विधि से निकाले जाते हैं। फलतः कार्यांग तथा सम्पूर्ण परिधि बहुत तीक्ष्ण होती है। इस प्रकार के हैण्डऐक्स अधिकांशतया लेवालेवा फलकों पर मिलते हैं। इनका अनुभाग प्रायः वीक्षाकार (Lense-shaped) होता है।

रूखानी अथवा छेनी कार्यांग हैण्डऐक्स (Chisel-ended Handaxe)

इस प्रकार के हैण्डऐक्स की आकृति किसी भी तरह की हो सकती है। इसकी विशिष्टता इसके कार्यांग में होती है। अन्य प्रकार के हैण्डऐक्सों से भिन्न, इसका कार्यांग नुकीला अथवा गोलाकार नहीं होता, अपितु बिलकुल सीधा रुखानी के कार्यांग के समान होता है। यह बहुत छोटा तथा जिह्वा के समान निकला हुआ होता है।
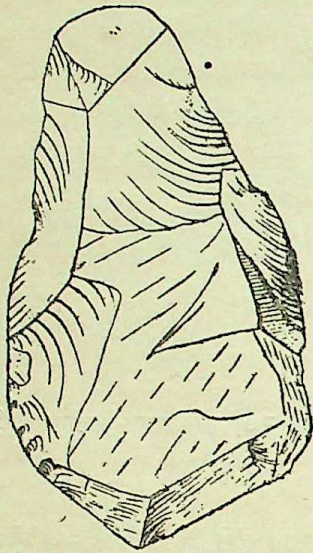
चित्र सं०—२९, छेनी कार्यांग हैण्डऐक्स (½)
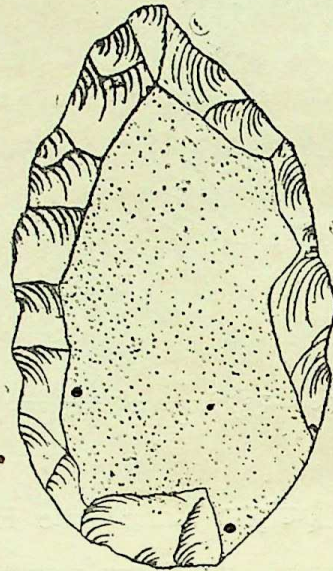
चित्र सं०—३०, चंक पर बने हैण्डऐक्स (½)

उपर्युक्त हैण्डऐक्सों के अतिरिक्त बहुत से स्थानों पर पत्थर के चिपटे टुकड़ों (चंक=chunk) पर बने हैण्डऐक्स मिलते हैं। ऐसे हैण्डऐक्सों पर फलकीकरण उसकी परिधि तक ही सीमित रहती है, शेष भाग दोनों पक्षों—उदर-पक्ष एवं पृष्ठ-पक्ष—पर अनगढ़ित रहते हैं। अधिकांशतया ये बहुत सुडौल तथा सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के हैण्डऐक्स प्रागैतिहासिक मानव की विकसित होती हुई बुद्धि के परिचायक हैं। उपकरणों को बनाने के लिए उन्होंने ऐसे पत्थरों का चयन किया, जिन्हें बहुत अल्पकार्य करके उपकरण में परिवर्तित किया जा सकता था।

आकारगत तथा अन्य विशेषताओं के आधार पर हैण्डऐक्सों को और भी वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। किन्तु ऊपर वर्णित वर्गों में लगभग सभी प्रकार के हैण्डऐक्स आ जाते हैं। पूर्व-पाषाणयुगीन सभी उपकरणों में हैण्डऐक्स नाम सबसे भ्रामक है। शाब्दिक अर्थानुसार यह ऐसा उपकरण होना चाहिए, जिसे हाथ में लेकर फरसे अथवा कुल्हाड़ी के समान प्रयोग किया जा सके। कुल्हाड़ी तथा फरसे का कार्यांग चौड़ा होता है, जबकि इसका कार्यांग प्रायः नुकीला होता है। इसके अतिरिक्त यह भी विवादास्पद है कि इसको हाथ में पकड़कर कार्य किया जाता था। विकसित प्रकार के हैण्डएक्सों में उनका समन्तान्त भली-भाँति गढ़ित होता है तथा उसका किनारा बहुत तीक्ष्ण होता है। उसे योंही हाथों में पकड़ कर प्रयोग करना कठिन है।

पेटरसन तथा ड्रमण्ड ने हैण्डऐक्स[1] के पंचमुखी कार्यों की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार—

[अ] 'चूंकि उसका कार्यांग नुकीला होता है, अतः इसका प्रयोग भोंकने अथवा छेदने के लिए किया जाता है।'

[ब] 'चूंकि उसका कार्यांग बहुत पतला तथा सकरा होता है, वह शीघ्र टूट सकता है, अतएव जिस किसी वस्तु में उसे भोंकना होगा, वह भूमि अथवा लकड़ी के समान सख्त नहीं होगी।'

[स] 'चूंकि कार्यांग पर प्रयोग अथवा रगड़ आदि के चिह्न प्रायः नहीं मिलते हैं, इसलिए इससे भी सिद्ध होता है कि उनका प्रयोग लकड़ी काटने अथवा खोदने के लिए नहीं होता था।'

[द] 'उत्तर-चेलियन काल में ये निश्चित रूप से मढ़े जाते रहे होंगे।'

[ई] 'इनके निर्माण में विशेष सावधानी बरती जाती थी। आधुनिक आदिवासी विशिष्ट प्रकार के उपकरणों के निर्माण तथा धार्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित उपकरणों में ही इतना ध्यान देते हैं।'

सारांश में, पेटरसन तथा ड्रमण्ड की धारणा है कि हैण्डऐक्स मढ़ा जाने वाला उपकरण था और यह फरसे के फल (Battle-axe) के समान बेट (Handle) से समकोण बनाते हुए मढ़ा जाता था।

पेटरसन तथा ड्रमण्ड के उपर्युक्त तर्कों को केवल पाक्षिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है। प्रारम्भिक काल के—चेलियन अथवा एब्बेवीलियन तथा प्रारम्भिक आशूलियन हैण्डऐक्सों का कार्यांग नुकीला अवश्य होता है, किन्तु यह न तो बहुत सकरा ही होता है और न ही कमजोर। उनका समन्तान्त बहुत भारी तथा कार्यांग भी बहुत पुष्ट होता है। बिना किसी कठिनाई के इसका प्रयोग जड़ों को खोदने अथवा लकड़ी को फाड़ने के कार्य में किया जा सकता है। उनसे कार्य लेने के लिए यह आवश्यक है कि समन्तान्त को दोनों हाथों से पकड़कर प्रयोग किया जाए।[2] मोटे चमड़े वाले जानवरों के चमड़े को काटने तथा उनकी हड्डियों को तोड़ने के लिए भी इस प्रकार के हैण्डऐक्स विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इनकी बनावट कुछ इस प्रकार की होती है तथा ये प्रायः इतने भारी होते हैं कि इन्हें फरसे अथवा भाले के समान मढ़ना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त उपकरण निर्माण के उषःकाल में उनको मढ़ने की कल्पना भी बहुत तर्कसंगत नहीं लगती है। अपने प्रारम्भिक काल में हैण्डऐक्स बहुत विशिष्ट (Specialised) उपकरण नहीं थे। वास्तव में उन्हें बहुधंधी उपकरण ही मानना चाहिए (क्योंकि प्रारम्भिक काल में केवल हैण्डऐक्स ही ज्ञात था। यूरोप में क्लीवर का इतिहास हैण्डऐक्स के बाद आरम्भ होता है)। हैण्डऐक्स का प्रयोग आदिमानव, आवश्यकतानुसार—जमीन को खोदने में, विशालकाय जानवरों के चमड़े को छेदने में, हड्डी तोड़ने में तथा आवश्यकता पड़ने पर शत्रु—जानवर अथवा मनुष्य—पर प्रहार करने आदि में करता रहा होगा।

प्रारम्भिक आशूलियन तथा उसके ठीक बाद से हैण्डऐक्स का विकास एक विशिष्ट उपकरण के रूप में होने लगता है। मध्य-आशूलियन तथा विकसित-आशूलियन के हैण्डऐक्स पतले एवं अधिक नुकीले हो

---

१. पेटरसन, टी० टी० ऐण्ड ड्रमण्ड, एच० जे० एच०—पाश्र्वोद्धरित, १९६२, पृ० १०३।
२. लेखक ने स्वयं इस सम्बन्ध में प्रयोग किया है।

जाते हैं तथा पहले के समान पुष्ट नहीं लगते । उनका आकार छोटा हो जाता है, समन्तान्त पहले की भाँति अनगढ़ित तथा भोड़ा नहीं रह जाता । अब नुकीले कार्यांग के अतिरिक्त उसकी चतुर्दिक परिधि भी पूर्णतः गढ़ने के कारण तीक्ष्ण होने लगती है । इस प्रकार के उपकरणों को हाथ में पकड़कर प्रयोग करना कठिन है । तीक्ष्ण धार के कारण हथेली के कटने की भी सम्भावना होती है । इसके अतिरिक्त यदि केवल उपकरण की नोक ही महत्त्वपूर्ण थी, तो उसकी सम्पूर्ण परिधि को तीक्ष्ण करने का कोई प्रयोजन समझ में नहीं आता है । उपकरणों की बनावट को देखने से भी यह स्पष्ट लगने लगता है कि उन लोगों का तकनीकी ज्ञान बहुत बढ़ चुका था । अतः इन सब बातों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि बाद के हैण्डऐक्स बहुधंधी नहीं रह गए थे । उनका प्रयोग विशिष्ट प्रयोजनों के लिए होता था । उनके आकार तथा बनावट आदि को देखने से लगता है कि उनका प्रयोग भाले, बरछे के अग्रभाग के समान होता होगा । इनमें अधिकांश हैण्डऐक्स मढ़े जाते रहे होगें ।

क्लीवर (Cleaver)

हैण्डऐक्स परिवार का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपकरण, क्लीवर है । प्राचीनता के दृष्टिकोण से इनका आविर्भाव हैण्डऐक्सों के बाद हुआ है । अफ्रीका के ओल्डुआई में इनका प्रवेश चेलियन से अशूलियन के परिवर्तन के समय होता है अर्थात् लीके के बेड् III और स्टेज IV में ।[१] भारत में ये हैण्डऐक्स के साथ-साथ ही मिलते हैं । प्रायः उन सभी स्थानों पर जहाँ हैण्डऐक्स मिले हैं, वहाँ क्लीवर भी मिलते हैं ।[२] क्लीवर को यदि हैण्डऐक्सों का विकसित स्वरूप कहें, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

क्लीवर, फलक तथा कोर दोनों पर मिलते हैं, किन्तु कोर पर बने फलक विरले होते हैं । आमतौर पर ये केवल फलक पर ही मिलते हैं । जिन फलक अथवा कोर पर ये मिलते हैं वे चौड़े, आयताकार अथवा त्रिकोणात्मक होते हैं । इनका कार्यांग हैण्डऐक्स से भिन्न होता है । आकृति में वह फावड़े अथवा चौड़े खुरपे के कार्यांग के समान होता है । उसके अन्य भाग साधारणतः हैण्डऐक्स के समान होते हैं, किन्तु कुछ में समन्तान्ता त्रिकोणात्मक होता है । डॉ० संकालिया का विचार है कि क्लीवर के लिए हैण्डऐक्स नाम अधिक उचित होगा ।[३]

क्लीवर के एक पक्ष पर प्रायः कार्यांग के निकट मूल बाह्यक विद्यमान रहता है । अधिकांशतया इसका स्वरूप त्रिकोणात्मक होता है । त्रिकोण की लम्बी भुजा प्रायः कार्यांग के समानान्तर होती है । क्लीवर के कार्यांग की भुजा स्वयं ही धारदार होती है । इसलिए इस पर प्रायः पुनर्गठन आदि के प्रमाण नहीं मिलते हैं । अनुमानतः वे क्लीवर बनाने के लिए विशिष्ट प्रकार के ही फलकों का चयन करते थे । अफ्रीका, यूरोप तथा भारत सभी स्थानों में प्राप्त क्लीवरों की यह एक प्रमुख विशेषता है ।

---

१. लीके, एल० एस० बी०—ओल्डुआई गार्ज, (ए रिपोर्ट आन दी इवोल्यूशन आफ दी हैण्डऐक्स कल्चर इन बेड्स), कैम्ब्रिज ऐट दी यूनीवर्सिटी प्रेस० ग्रेट ब्रिटेन, १९५१, पृ० ९७ ।

२. भारत के अत्तिरमपक्कम सोपानों, होशंगाबाद तथा महादेव पिपरिया में क्लीवर तथा हैण्डऐक्स के विकास के स्तरीय प्रमाण मिले हैं ।—संकालिया, एच० डी०—पार्श्वोद्धरित, १९६४, पृ० ९७ ।

३. संकालिया, एच० डी०—वही, १९६४, पृ ५५१ ।

डॉ० संकालिया ने क्लीवर का वर्गीकरण[1] उसके १—समन्तान्त, २—कार्यांग तथा ३—बेड़े अनुभाग के आकार के आधार पर निम्नलिखित वर्गों में किया है—

१—प्रथम वर्ग के क्लीवर का समन्तान्त चौकोर, गोलाकार अथवा 'U' आकृति का तथा कार्यांग चौड़ा और सीधा होता है। इस प्रकार के क्लीवर आयताकार या चौकोर से होते हैं।
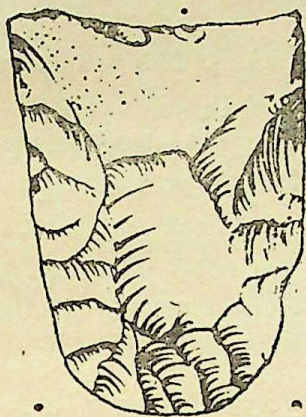
चित्र सं०—३१ अ
'U' आकृति-क्लीवर (१/२)
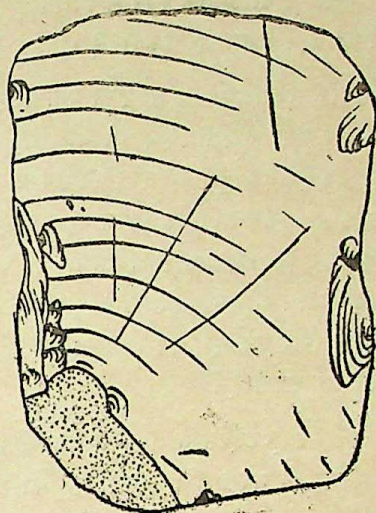
चित्र सं०—३१ ब, चौकोर समन्तान्त क्लीवर (१/२)

२—दूसरे वर्ग के क्लीवर का समन्तान्त नुकीला तथा कार्यांग चौड़ा और सीधा होता है। इस प्रकार के क्लीवर प्रायः 'V' आकृति के होते हैं।
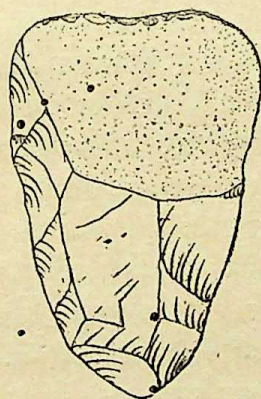
चित्र सं०—३२
नुकीला समन्तान्त क्लीवर (१/२)
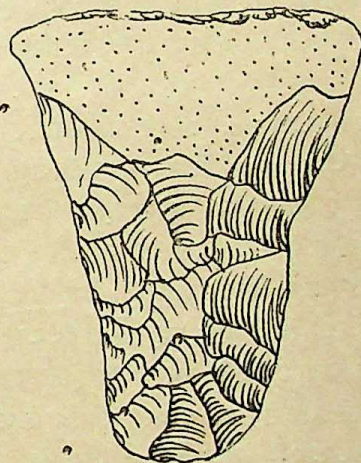
चित्र सं०—३३
कार्यांग के निकट फैली भुजा वाले क्लीवर (१/२)

१. संकालिया, एच० डी०—पाश्वींद्धरित, १९६४, पृ० ५६-५८।

३—तीसरे वर्ग के क्लीवर का समन्तान्त चौड़ा या सकरा होता है, किन्तु उसकी भुजाएँ कार्यांग के निकट बाहर की ओर फैली हुई होती हैं। कार्यांग सीधा, उन्नतोदर अथवा नतोदर होता है।

४—चौथे वर्ग के क्लीवरों का बेड़ा अनुभाग समानान्तर चतुर्भुज के समान होता है। अफ्रीका तथा भारत में इसके बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका में इस प्रकार के क्लीवर विशिष्ट सांस्कृतिक स्तर में मिलते हैं, किन्तु भारत में इस प्रकार का कोई भी वर्गीकरण स्तर के आधार पर नहीं किया जा सकता है।

डॉ० संकालिया का उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत व्यापक नहीं है। चतुर्थ वर्ग बहुत स्पष्ट नहीं है, क्योंकि अन्य वर्गों के क्लीवर के भी बेड़े अनुभाग लगभग समानान्तर चतुर्भुज हो सकते हैं। यदि सभी वर्गों को उनके बेड़े अनुभाग तथा कार्यांग के आधार पर वर्गीकृत किया जाय, तो सम्भवतः वह अधिक उपर्युक्त होगा। समन्तान्त के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रमुख वर्गों में विभाजित कर के फिर अन्य विशेषताओं को ध्यान में रख कर उपवर्ग बनाये जा सकते हैं। जैसे, यदि कार्यांग को ध्यान में रखें, तो तीन वर्गों में—सीधा, उन्नतोदर तथा नतोदर—विभाजित किया जा सकता है। फिर एक-एक वर्ग के समन्तान्त, भुजा तथा बेड़े अनुभाग के आधार पर उपवर्गों में उन्हें विभाजित कर सकते हैं।

क्लीवर हैण्डऐक्स से विकसित उपकरण है, किन्तु यह भी हैण्डऐक्सों के समान अनेक प्रकार से प्रयोग में लाए जा सकते हैं। किसी वस्तु को काटने के लिए यह हैण्डऐक्स से अधिक उपयोगी है। बहुत सम्भव है कि इनका उपयोग जंगली वृक्षों को काट कर गिराने आदि में किया जाता हो। ज्वाएनर (Zeuner) की धारणा है कि क्लीवर का आधिक्य जंगलों के आधिक्य की ओर निर्देश करता है।[1] इसके विपरीत पेटरसन तथा ड्रमण्ड[2] की धारणा है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासी वृक्षों को काटने के लिए इससे भिन्न उपकरण का प्रयोग करते हैं। वृक्षों को काटने की प्रथा, उनके अनुसार नव पाषाण काल (Neolithic Age) में तथा अन्न उत्पादन करने वाली सभ्यताओं में अधिक प्रचलित हुआ।[2] इसका उपयोग जानवरों को काटने में तथा उनके चमड़ों को साफ करने में भी किया जा सकता है। उन्नतोदर (Convex) प्रकार के क्लीवर चमड़ों को साफ करने के लिए अधिक उपयोगी होंगे। नतोदर (Concave) प्रकार के क्लीवरों से लकड़ी को छीलकर बेट आदि बनाने का कार्य किया जा सकता है। क्लीवर का प्रयोग हाथों से तथा डण्डे में मढ़कर दोनों ही प्रकार से किया जाता होगा। विशेषकर वे, जिनका समन्तान्त नुकीला है उनको निश्चय ही मढ़ा जाता होगा। उनको हाथ में पकड़ कर प्रयोग करना बहुत कठिन है। उन्हें लकड़ी में दो प्रकार से मढ़ा जा सकता है। जिन क्लीवरों का कार्यांग टेढ़ा (Oblique) है, सम्भवतः उन्हें लकड़ी में कुल्हाड़ी के समान मढ़ा जाता था। दूसरे शब्दों में उनका कार्यांग बेट के समानान्तर होता था। इस प्रकार क्लीवरों का प्रयोग सम्भवतः वृक्षादि काटने तथा जानवरों से रक्षार्थ अस्त्र के रूप में भी करते रहे होंगे। आज भी आदिवासी जंगलों में विचरण करते समय टंगारी लेकर चलते है, जिसका उपयोग आत्मरक्षा तथा वृक्ष काटने दोनों में ही किया

---

१. ज्वाएनर, एफ० ई०—इनवायर्नमेण्ट आव अर्ली मैन विथ स्पेशल रिफरेंस टू ट्रापिकल रीजंस, बरौडा, १९५३।

२. पेटरसन, टी० टी० तथा ड्रमण्ड—पार्श्वोद्धरित, १९६२, पृ० १०४।

जाता है। इसके अतिरिक्त क्लीवर को फावड़े अथवा बसुले के समान भी मढ़ा जा सकता है। ऐसी दशा में कार्यांग, बसुले के समान बेट से समकोण बनाता है। क्लीवर के कार्यांग पर प्रयोग के निशानों का अध्ययन कर के यह निश्चय किया जा सकता है कि उनको किस प्रकार से मढ़ा जाता होगा ? जिन क्लीवरों का कार्यांग सीधा होता है तथा प्रयोग के चिह्न केवल कार्यांग के बीच में होते हैं और कार्यांग के किनारे ठीक होते हैं, उनका उपयोग अनुमानतः बसुले के ही समान होता था। क्योंकि बसुले के समान ही मढ़ने पर कार्यांग का मध्य-भाग सम्पर्क में आयेगा और उसी पर प्रयोग के निशान पड़ेंगे। कुल्हाड़ी के समान प्रयोग करने में उसके कार्यांग का वह भाग जो बेट के निकटतम होता है अधिक सम्पर्क में आता है। इसीलिए वह घिस जाता है। इस प्रकार के क्लीवरों के कार्यांग के बीच में प्रयोग के चिह्न नहीं मिलते हैं। उनका कार्यांग प्रयोग के कारण तिरछा (Oblique) हो जाता है।

स्क्रेपर (Scraper)

पूर्व-पाषाण युग का तीसरा प्रमुख उपकरण है स्क्रेपर। क्लीवर की तरह इसका भी नामकरण उपकरण के सम्भावित प्रयोग पर ही आधारित है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। इस उपकरण का प्रयोग अनुमानतः खुरचने के लिए होता होगा। प्रायः उन सभी उपकरणों को जिनसे इस प्रकार का कार्य किया जा सकता है, उन्हें स्क्रेपर की संज्ञा प्रदान करते हैं। खुरचने के अतिरिक्त इनसे काटने का कार्य भी सुलभ है।

स्क्रेपर, हैण्डऐक्स के समान कोर तथा फलक दोनों पर मिलते हैं। अन्यत्र कहा जा चुका है कि पेबुल पर बने, विशालकाय, एकपक्षीय (Unifacial) उपकरण को (स्क्रेपर को) चॉपर कहते हैं। पेबुल पर बने एकपक्षीय किन्तु छोटे स्क्रेपरों को पेबुल-स्क्रेपर कहते हैं। साधारण स्क्रेपरों में, चॉपर तथा पेबुल स्क्रेपरों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के कोर अथवा फलक पर बने स्क्रेपरों की गणना की जाती है। इस प्रकार का वर्गीकरण कितना उचित अथवा अनुचित है इस पर अन्यत्र विचार करेंगे।

पाषाणकालीन सभी उपकरणों में स्क्रेपर का विशिष्ट स्थान है। केवल स्क्रेपर ही एक ऐसा उपकरण है, जो पूर्व-पाषाण काल से लेकर सभी काल में मिलता है। समयानुसार केवल उनकी बनावट तथा रूप-रेखा में परिवर्तन होता जाता है। जैसे पूर्व-पाषाण काल के विशालकाय स्क्रेपर उत्तर पाषाण-काल में अंगुष्ठ-नख स्क्रेपर (Thumb-nail Scraper) का स्वरूप धारण कर लेते हैं। आकार के अतिरिक्त विभिन्न युगों के स्क्रेपरों के पुनर्गठन की परिपाटी में भी अन्तर है।

हैण्डऐक्स तथा क्लीवर दोनों ही उपकरणों का प्रयोग बाद में डण्डे आदि में मढ़ कर होता रहा होगा। इसके विषय में पहिले ही विचार किया जा चुका है। किन्तु स्क्रेपरों की बनावट को ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि इन उपकरणों को मढ़ा नहीं जाता होगा। इनका प्रयोग हाथ में पकड़ कर ही होता होगा।

पूर्व-पाषाणकालीन स्क्रेपर अपेक्षाकृत विशालकाय होते हैं। साधारणतः पुनर्गठन स्क्रेपर के कार्यांग तक सीमित रहता है। उपकरण के दोनों पक्षों से एकान्तरतया फलक निकाल कर कार्यांग बनाते हैं। कार्यांगों के स्थान के आधार पर इनको निम्नलिखित तीन प्रमुख भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—पार्श्व स्क्रेपर (Side Scraper)
२—अन्तस्थ स्क्रेपर (End Scraper)
३—वृत्ताकार स्क्रेपर (Round Scraper)

पार्श्व स्क्रेपर तथा अन्तस्थ स्क्रेपर को उनके कार्यांग की बनावट के आधार पर निम्नलिखित तीन भागों में पुर्नविभाजन कर सकते हैं—

१—उन्नतोदर कार्यांग (Convex Working-edge)

२—नतोदर कार्यांग (Concave Working-edge)

३—सीधा कार्यांग (Straight Working-edge)

पार्श्व स्क्रेपर (Side Scraper)

पार्श्व स्क्रेपर उनको कहते हैं, जो किसी कोर अथवा फलक—अन्त-फलक (End Flake) या पार्श्व फलक (Side Flake)—की किसी भुजा पर बनाये जाते हैं। कार्यांग एक या एक से अधिक भुजाओं में भी हो सकता है। कार्यांग के विपक्ष की भुजा प्रायः समन्तान्त के समान होती है, जिससे उपकरण को सरलता-पूर्वक पकड़ कर प्रयोग में लाया जा सके। कार्यांग उन्नतोदर, नतोदर अथवा सीधा हो सकता है।
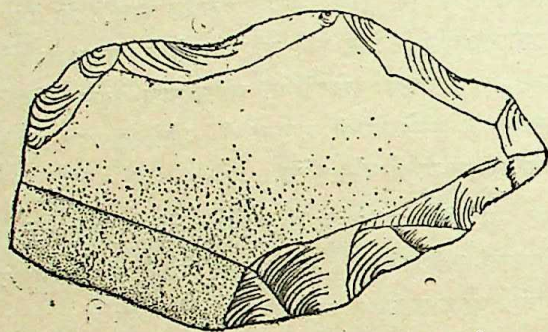
चित्र सं० —३४, पार्श्व स्क्रेपर ($\frac{1}{2}$)
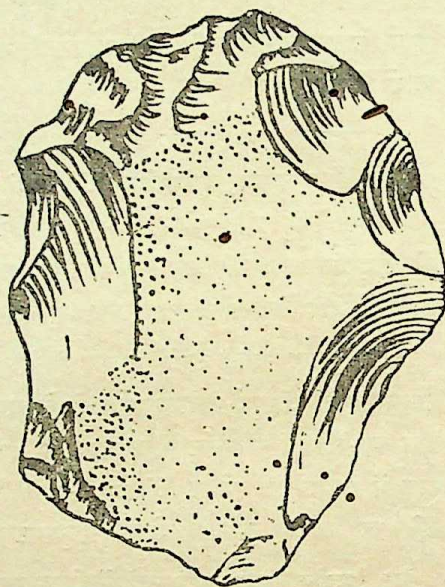
चित्र सं०—३५, अन्तस्थ स्क्रेपर ($\frac{1}{2}$)

अन्तस्थ स्क्रेपर (End Scraper)

इस प्रकार के स्क्रेपर का कार्यांग किसी भी फलक अथवा चौरसतलीय नोडूल के छोर अथवा अन्त पर होता है। इसमें एकदम सीधा (Steep) पुनर्गठन एक ही पक्ष से किया जाता है। चूंकि कार्यांग फलक के अन्त में होता है, अतः इस प्रकार के स्क्रेपर को अन्तस्थ स्क्रेपर कहते हैं। साधारणतः इस प्रकार के स्क्रेपरों का कार्यांग बिलकुल सीधा या कभी-कभी बहुत थोड़ा उन्नतोदर होता है। कार्यांग की उलटी दिशा में पकड़ने के लिए समन्तान्त अपेक्षाकृत मोटा तथा प्रायः अनगढ़ित होता है।

वृत्तात्मक स्क्रेपर (Round Scraper)

इस प्रकार के स्क्रेपर गोलाकार फलक अथवा कोर पर बने होते हैं। इनमें कार्यांग आधे या आधी से अधिक परिधि में होता है। कार्यांग बनाने के लिए फलकीकरण प्रायः उभयपक्षीय होता है, किन्तु वह एकपक्षीय भी हो सकता है। इस प्रकार के स्क्रेपरों में कार्यांग साधारणतः उन्नतोदर ही होता है।
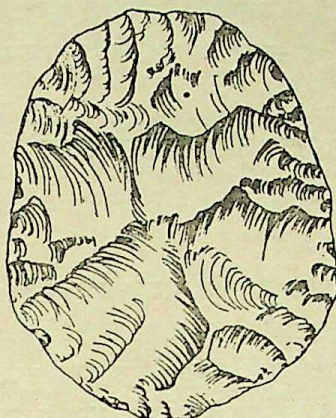
चित्र सं०—३६, वृत्तात्मक स्क्रेपर (१/२)

मिश्रित उपकरण

पूर्व-पाषाण काल के प्रायः सभी उपकरण बहुधंधी थे और उनको प्रागैतिहासिक मानव सुविधानुसार प्रयोग में लाता था। उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त पूर्व-पाषाणकालीन उपकरण-समुदाय के साथ बहुत से ऐसे भी उपकरण मिलते हैं, जिन्हें स्पष्टतः उपर्युक्त विभाजनों के अन्तर्गत रखना सम्भव नहीं है। ये उपकरण इस प्रकार के होते हैं कि उनसे दो भिन्न प्रकार के उपकरणों का कार्य लिया जा सकता है। जैसे, **हैण्डऐक्स-पार्श्व स्क्रेपर** प्रकार के उपकरण। इनमें दोनों ही उपकरणों के तत्त्व इस प्रकार से मिलते हैं कि उन्हें केवल स्क्रेपर अथवा हैण्डऐक्स नहीं कहा जा सकता है। ऐसा लगता है कि प्रागैतिहासिक मानव ने इन विशिष्ट उपकरणों का निर्माण सुविधा की दृष्टिकोण से किया था। तकनीक के आधार पर इन उपकरणों को विकसित उपकरणों की श्रेणी में रखना चाहिए।

इस प्रकार के उपकरणों को मिश्रित उपकरणों की श्रेणी में रखा जाता है। उदाहरण के रूप में इनका विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

१—हैण्डऐक्स-स्क्रेपर (Handaxe-scraper)
२—क्लीवर-स्क्रेपर (Cleaver-Scraper)

जिन उपकरणों को हैण्डऐक्स-स्क्रेपर वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं वे प्रायः पार्श्व-फलक पर बने होते हैं। उसका एक अन्त पुनर्गठन द्वारा नुकीला अथवा हैण्डऐक्स के कार्यांग के समान होता है तथा आघात के अर्धशंकु के विपक्ष की भुजा पर पुनर्गठन के द्वारा स्क्रेपर कार्यांग बनाया जाता है। इस प्रकार के उपकरणों में दोनों कार्यांगों के विपक्ष में दो समन्तान्त पकड़ने के दृष्टिकोण से होते हैं—एक हैण्डऐक्स कार्यांग के विपक्ष में और दूसरा स्क्रेपर कार्यांग के विपक्ष में (देखिए चित्र सं० ३४)।

क्लीवर-स्क्रेपर की बनावट भी बहुत कुछ इसी प्रकार की होती है। इसमें हैण्डऐक्स कार्यांग के स्थान पर क्लीवर कार्यांग होता है। स्क्रेपर कार्यांग दोनों में समान होता है। ये दोनों ही उपकरण फलक के अतिरिक्त कोर पर भी मिल सकते हैं।

ऊपर वर्णित उपकरणों के अतिरिक्त पूर्व-पाषाणकालीन उपकरणों के साथ बहुत से फलक तथा कोर भी मिलते हैं। चूंकि इन पर पुनर्गठन के प्रमाण प्रायः नहीं मिलते हैं, अतः उन्हें उपकरणों के

अन्तर्गत नहीं रखते हैं। किन्तु मानव ने निश्चय ही अनगढ़ित फलकों का भी उपयोग उपकरण के रूप में किया होगा। इसी प्रकार बचे हुए कोर के टुकड़ों का भी उपयोग अवश्य ही किया होगा। कुछ फलकों पर जिन पर पुनर्गठन के चिह्न नहीं होते, उन पर भी प्रयोग के चिह्न मिलते हैं, अतः फलकों को प्रायः उपयोजित (Utilised-flake) तथा अनुपयोजित (Unutilised-flake) फलकों में विभाजित कर सकते हैं। उनके आकार, आघात के अर्धशंकु के स्थान आदि के आधार पर भी उनका विभाजन किया जा सकता है।

मध्य-पूर्वपाषाणकालीन अथवा मध्य-पाषाणकालीन-उच्च तथा पूर्वपाषाणकालीन प्रस्तर-उपकरण

मध्य-पूर्वपाषाण काल स्तर के दृष्टिकोण से निम्न-पूर्वपाषाण काल के बाद तथा उच्च-पूर्वपाषाण काल के पूर्व का काल है। कुछ समय पूर्व तक जब उच्च-पूर्वपाषाणकालीन स्तर तथा उपकरणों की स्थिति संदिग्ध थी तब पाषाण काल का विभाजन —प्रारम्भिक पाषाण काल मध्यपाषाण काल तथा उत्तर पाषाण काल में किया जाता था। स्तर तथा उपकरण के दृष्टिकोण से मध्य-पूर्वपाषाण काल तथा मध्य पाषाण काल में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर प्रमुखतया दोनों के काल विस्तार (Time span) में है। मध्य-पूर्व पाषाण काल मध्यपाषाण काल की अपेक्षा अधिक सीमित है। इसके अतिरिक्त मध्य-पूर्वपाषाण उद्योग का अन्त लघुपाषाण उद्योग में न होकर ब्लेड—ब्यूरिन उद्योग में होता है।

मध्य-पूर्वपाषाण काल स्तर तथा उपकरण दोनों ही दृष्टिकोणों से निम्न-पूर्वपाषाण काल से सर्वथा भिन्न है। भारत के प्रायः सभी नदियों में निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरण नदियों के प्रथम उच्चयन काल (First Aggradational Phase) से तथा मध्य-पूर्वपाषाण काल के उपकरण द्वितीय उच्चयन काल (Second Aggrdational Phase) से सम्बन्धित हैं। पेबुल उपकरण, हैण्डऐक्स, क्लीवर आदि जो निम्न-पूर्वपाषाण काल के प्रमुख उपकरण थे इस काल में उद्योग के रूप में समाप्त हो जाते हैं। यद्यपि विकसित उपकरण के रूप में मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उपकरण के साथ-साथ अवश्य मिलते हैं, किन्तु संख्या की दृष्टि से ये नगण्य हैं। इनका स्थान नये प्रकार के उपकरण ले लेते हैं। केवल स्क्रेपर अपने विकसित स्वरूप में मिलते हैं। यदि कहें कि इस युग का यह सबसे प्रमुख उपकरणों था, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। किन्तु इसके स्वरूप तथा तकनीक में इतना परिवर्तन हो जाता है कि दोनों कालों के स्क्रेपरों को सहज ही अलग किया जा सकता है। फलक तत्त्व जो निम्न-पूर्वपाषाणकालीन उद्योगों में दृष्टिगोचर हो रहा था वह अब बहुत स्पष्ट हो जाता है। यहाँ तक कि इस युग के यदि सभी नहीं, तो अधिकांश उपकरण अब फलक पर ही बनने लगते हैं। फलक तथा स्क्रेपर तत्त्वों की प्रधानता के कारण कभी-कभी इस उद्योग को ब्लेड-फलक-स्क्रेपर परिपाटी के अन्तर्गत रखते हैं। उपकरणों का अन्तर पत्थरों के कारण और अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इस काल में पहले से अधिक अच्छे पत्थरों का प्रयोग हुआ है। साधारणतया स्फटिकाश्म (Quartzite) सदृश पत्थरों के उपकरण अब नहीं मिलते हैं। किन्तु, पत्थरों के विभेद के ऊपर आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए, क्योंकि सभी काल में अच्छे तथा बुरे पत्थरों का प्रयोग किया गया है। निम्न-पूर्वपाषाण काल में भी जहाँ अच्छे प्रकार के पत्थरों के बड़े नोडूल उपलब्ध थे वहाँ उन पर बने उपकरण मिलते हैं। जिन स्थानों पर अच्छे पत्थर उपलब्ध नहीं थे वहाँ मध्य-पूर्वपाषाण काल में भी घटिया प्रकार के पत्थरों का प्रयोग किया गया है। चूंकि सूक्ष्म कणों के पत्थर अधिकांशतया

समांग होते हैं अतः वे विशिष्ट प्रकार के उपकरणों के लिए अधिक उपयोगी होते हैं उनके ऊपर नियंत्रित फलकीकरण तथा पुनर्गठन दोनों ही सुलभ होता है, इसीलिए साधारण रूप से ऐसे ही पत्थरों का प्रयोग इस काल में उपकरण निर्माण के लिए किया गया है।

मध्य-पूर्वपाषाण काल अथवा मध्य पाषाण काल में निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरणों से आमूल परिवर्तन कैसे हो गया यह एक आवश्यक ही नहीं अपितु कठिन प्रश्न भी है। डॉ० संकालिया की धारणा है कि निम्न-पूर्वपाषाण युगीन उपकरणों तथा मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उपकरणों का यह विभेद जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों तथा नवीन प्रभावों के कारण अथवा नवीन मानव की उत्पत्ति के कारण हो सकता है।[1] यदि हम प्रथम तर्क को स्वीकार करें, तो उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि ये जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन इतने क्रमिक थे तथा इनका काल इतना विस्तृत था कि उपकरणों का विकास भी क्रमिक रूप से ही होना चाहिए। ऐसी स्थिति में इस क्रमिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का मिलना भी आवश्यक है। यदि हम दूसरे तर्क पर विचार करें, तो यह बताना भी कठिन है कि यह परिवर्तन सर्वप्रथम कहाँ पर आरम्भ हुआ और कैसे सभी स्थानों में फैला। इसके अतिरिक्त इन नवीन लोगों के प्रारम्भिक विकास की अवस्थाओं का मिलना भी आवश्यक है। यह साधारण रूप से बोधगम्य नहीं है कि एकदम से एक नवीन प्रकार के लोगों का अभ्युदय सभी स्थानों पर हुआ और उन्होंने उपकरण निर्माण में दक्षता प्राप्त कर ली।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा अन्य स्थानों में हुए अनुसंधान इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।[2] इन अनुसंधानों के फलस्वरूप अब निम्न-पूर्वपाषाणकालीन तथा मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उद्योगों में एक विकासात्मक क्रम स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बेलन[3] के द्वितीय ग्रैवल को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम अथवा निम्नतर विभाजन में निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरणों —हैण्डऐक्स क्लीवर आदि— के साथ-साथ मध्य-पूर्वपाषाण युग के उपकरण भी मिलते हैं। इस स्तर से प्राप्त निम्न-पूर्वपाषाणकालीन उपकरणों में फलक तत्त्व की ही प्रधानता है। मध्यस्तर में मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उपकरणों की संख्या बढ़ जाती है, किन्तु निम्न-पूर्वपाषाण काल के फलक तत्त्व फिर भी वर्तमान हैं। अन्तिम स्तर में निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरण तथा फलक तत्त्व एकदम समाप्त हो जाते हैं और केवल मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उपकरण मात्र ही मिलते हैं। यदि अन्तिम स्तर के मध्य-पूर्वपाषाणकालीन उपकरणों को निम्न-पूर्व पाषाणकालीन उपकरणों के साथ रखा जाए तो दोनों का सम्बन्ध बताना अथवा उनका विकासक्रम बताना कठिन हो जाता है, किन्तु सभी स्तरों के उपकरणों को एक साथ ध्यान से देखने पर उनके विकास का क्रम स्पष्ट हो जाता है। नवीन परिस्थितियों से सामंजस्य के लिए उपकरणों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नितान्त आवश्यक था। उपकरणों के स्वरूप परिवर्तन में बदलती परिस्थितियों ने बहुत योगदान दिया है। जैसे-जैसे जलवायु आदि में परिवर्तन हुआ मनुष्य के उपकरणों में भी वैसे-वैसे परिवर्तन होता गया।

---

१. संकालिया, एच० डी०, — पाश्र्वोद्धरित, १६६४, पृ० ६०।
२. इण्डियन आर्क्यालजी—ए रिव्यू, १६६६-६७।
३. वही।

उपकरणों के दृष्टिकोण से मध्य-पूर्वपाषाण काल बहुत विकसित काल था। निम्न-पूर्वपाषाण काल की सभी प्रविधियों का प्रयोग इस काल में भी मिलता है। किन्तु इस काल में अप्रत्यक्ष संघात-विधि तथा निपीड़ प्रविधियों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होने लगता है। पुनर्गठन पहले की अपेक्षा अधिक और क्रमपूर्वक मिलता है।

मध्य-पूर्वपाषाण काल के अधिकांश उपकरण फलकों पर बने मिलते हैं। उनका आकार अपेक्षाकृत छोटा हो जाता है। इस काल के प्रमुख उपकरण निम्नलिखित हैं—

स्क्रेपर (Scraper)

मध्य-पूर्वपाषाणयुगीन उपकरणों में सबसे विशिष्ट उपकरण स्क्रेपर हैं। निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरणों में केवल ये ही प्रचलित मिलते हैं, किन्तु दोनों कालों के स्क्रेपरों की बनावट और आकार-प्रकार मे बहुत अन्तर है। ये कोर, फलक तथा ब्लेड-फलक तीनों पर मिलते हैं। फलक पर निर्मित स्क्रेपर अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलते हैं।

निम्न-पूर्वपाषाणयुगीन स्क्रेपरों के ही समान इनको भी निम्नलिखित प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

१—पार्श्व स्क्रेपर
२—अन्तस्थ स्क्रेपर
३—वृत्तात्मक स्क्रेपर

चित्र सं०—३७
पार्श्व स्क्रेपर (१/२)

चित्र सं०—३८
अन्तस्थ स्क्रेपर (१/२)
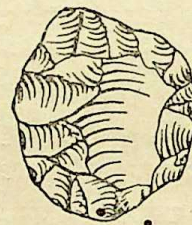
चित्र सं०—३९
वृत्ताकार स्क्रेपर (१/२)

यह विभाजन कार्यांग की स्थिति के आधार पर किया गया है। कार्यांग की बनावट के आधार पर इनको फिर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१—उन्नतोदर कार्यांग
२—नतोदर कार्यांग
३—सीधा कार्यांग
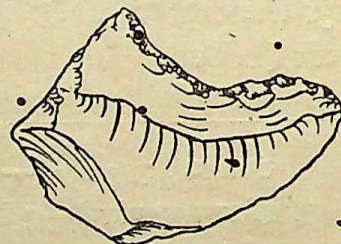
चित्र सं०—४०

उपर्युक्त सभी प्रकार के स्क्रेपर निम्न-पूर्वपाषाण काल में भी मिलते हैं। उनके सम्बन्ध में पूर्व-पाषाणकालीन स्क्रेपरों के विषय में चर्चा करते समय लिखा जा चुका है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित नहीं होगा कि दोनों काल के स्क्रेपरों में समता केवल उनके कार्यांग के आकार में ही है। निम्न-पूर्वपाषाण काल के स्क्रेपर प्रायः विशालकाय तथा रुक्ष होते हैं। मध्य-पूर्वपाषाण काल के स्क्रेपर अपेक्षाकृत बहुत छोटे, सुडौल और सूक्ष्म कण वाले पत्थरों पर बने होते हैं। उनके ऊपर पुनर्गठन भी बहुत सूक्ष्म, क्रमबद्ध और सुन्दर होता है।

ऊपर वर्णित स्क्रेपरों के अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार के स्क्रेपर केवल मध्य-पूर्वपाषाण काल में ही मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

नासिका स्क्रेपर (Nose Scraper)
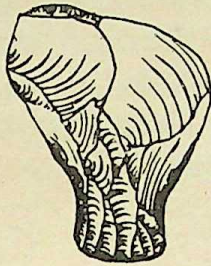
ये साधारणतया फलक और ब्लेड पर मिलते हैं। किन्तु कोर पर भी बनाये जाते थे। नासिका स्क्रेपर बनाने के लिए एक अन्त के दोनों पार्श्वों पर एक-एक खड्डा (Notch) इस प्रकार से बनाया जाता है कि दोनों खड्डों के बीच का भाग नासिका के समान निकला हुआ लगता है। इस प्रकार निकलने के कारण ही इसे नासिका स्क्रेपर कहते हैं। इसी निकले भाग पर पुनर्गठन द्वारा कार्यांग बनाते हैं।

चित्र सं०—४१; नासिका स्क्रेपर (½)

खात स्क्रेपर (Notch Scraper)

यह मूलतः नतोदार स्क्रेपर (Concave Scraper) ही होता है। अन्तर केवल इतना है कि नतोदर स्क्रेपर का कार्यांग अपेक्षाकृत बड़ा होता है और खात स्क्रेपर का कार्यांग छोटा तथा अधिक गोलाकार होता है।

चित्र सं०—४२, खात स्क्रेपर (½)

मध्योभार स्क्रेपर (Keeled Scraper)
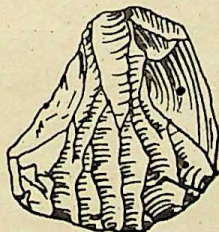
यह उपकरण फलक तथा कोर दोनों पर ही मिलता है। इसका कार्यांग चौड़ा होता है। उपकरण के मध्य के उभरे भाग से सकरे, छिछले फलक आकर कार्यांग बनाते हैं। स्क्रेपर पर उसके मध्य भाग से कार्यांग तक समानान्तर फलक चिह्न होते हैं, जो पंखे के समान लगता है। फलक चिह्न को देखने से स्पष्ट है कि, ये ब्लेड की फ्लूटिंग प्रविधि से निकाले जाते होंगे। यूरोप के उच्च-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग का यह एक विशिष्ट उपकरण है।

चित्र सं०—४३, मध्योभार स्क्रेपर (½)
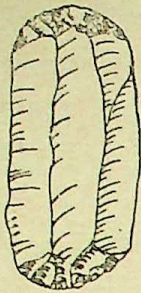
चित्र सं०—४४,
द्वयंत स्क्रेपर (१/२)
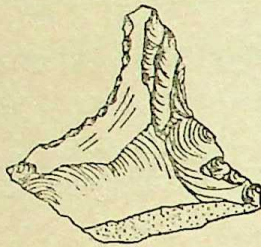
चित्र सं०—४५,
छिद्रक स्क्रेपर (१/२)

चित्र सं०—४६,
साधारण अस्त्राग्र (१/२)

द्वयंत स्क्रेपर (Double-ended Scraper)

इस उपकरण का कार्यांग फलक के दोनों अन्त पर होता है। इसी लिए इसे द्वयंत स्क्रेपर कहते हैं।

छिद्रक-स्क्रेपर (Borer-cum-Scraper)

मध्य-पूर्वपाषाण काल का यह एक विशिष्ट उपकरण है। इसके एक किनारे पर छिद्रक कार्यांग बाहर की ओर बढ़ा हुआ होता है। छिद्रक कार्यांग को बनाने के लिए दोनों किनारों से पुनर्गठन किया जाता है। इस प्रकार से गढ़ने के कारण छिद्रक कार्यांग के निकट नतोदर स्क्रेपर-कार्यांग बन जाता है। छिद्रक कार्यांग के दूसरी ओर का भाग हाथ से पकड़ने के लिए होता है।

अस्त्राग्र (Point)

नुकीले उपकरणों को प्रायः अस्त्राग्र अथवा वाणाग्र की संज्ञा प्रदान करते हैं। यह नामकरण उपकरण-विशेष के सम्भावित प्रयोग पर आधारित है। साधारणतया अस्त्राग्रों को दो प्रमुख भाग में विभाजित कर सकते हैं—

क—साधारण अस्त्राग्र (Simple Point)
ख—पुच्छल अस्त्राग्र (Tanged Point)

क—साधारण अस्त्राग्र (Simple Point)

इस कोटि में प्रायः वे सभी उपकरण आते हैं, जिनमें पुच्छल (Tang) नहीं होता है। ये विभिन्न आकार के पतले अथवा मोटे सभी प्रकार के हो सकते हैं। प्रायः ये त्रिकोणात्मक, गोलाकार, लम्बे अथवा पत्ती के आकार के फलकों पर बने होते हैं। फलक साधारण तथा लेवालेवा दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के उपकरणों में विशिष्टता उनके नोकों में (Point) होती है, जो कभी एक भुजा, कभी दोनों भुजाओं तथा कभी-कभी केवल नोक के निकट दोनों तरफ से पुनर्गठन करके बनाई जाती है। इन उपकरणों में पुनर्गठन का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिनमें पुनर्गठन नहीं होता है उन्हें केवल आकार के आधार पर अस्त्राग्र की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। नोक की उलटी दिशा में अथवा समन्तान्त से भी एक आद फलक निकाल कर उसे पतला कर देते हैं, जिससे उन्हें मढ़ने में कठिनाई न हो। प्रायः नोक के बीच अथवा किसी किनारे के निकट एक उभरी रेखा (Ridge) भी होती है, जिससे अस्त्राग्र की पुष्टता बनी रहे।

साधारण अस्त्राग्रों को उनकी फलकीकरण पद्धति के आधार पर अन्य उपवर्गों में विभाजित करते हैं। यदि अस्त्राग्र को बनाने के लिए दोनों पक्षों से फलकीकरण किया गया है, तो उन्हें **उभयपक्षीय अस्त्राग्र** (Bifacial Point) की संज्ञा प्रदान करते हैं। इनमें फलकीकरण—बेलनाकार हथौड़े से अथवा निपीड प्रविधि से—दोनों पक्षों से होता है। ये प्रायः कोर पर बने होते हैं, किन्तु मोटे फलक पर भी मिलते हैं।
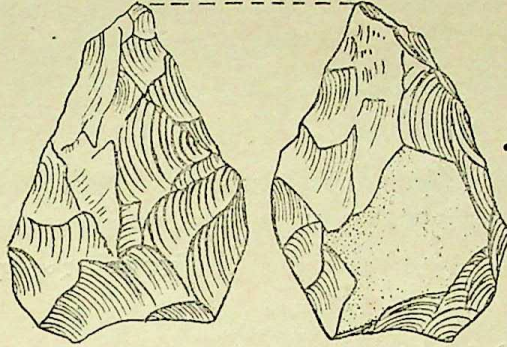
चित्र सं०—४७,
उभयपक्षीय अस्त्राग्र (½)

ख—पुच्छल अस्त्राग्र (Tanged Point)

पुच्छल अस्त्राग्रों को पुच्छल की बनावट के आधार पर कम से कम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—प्राथमिक-पुच्छल अस्त्राग्र (Incipient Tanged Point)
२—द्विस्कंध-पुच्छल अस्त्राग्र (Double Shouldered Point)

१—प्राथमिक-पुच्छल अस्त्राग्र (Incipient Tanged Point)

इस प्रकार के अस्त्राग्र में पुच्छल नाममात्र का ही होता है। पुच्छल बनाने के लिए समन्तान्त की ओर से किसी एक भुजा से इस प्रकार से फलक निकालते हैं कि नीचे थोड़ा-सा भाग बाहर की ओर (Projection) निकल-सा जाता है। इसको बनाने के लिए एक तरफ की भुजा में एक छोटा-सा खात बनाते हैं, जिससे पुच्छल बाहर निकला लगता है। दूसरी भुजा में प्रायः कोई भी पुनर्गठन नहीं मिलता, किन्तु भुजा स्वाभाविक रूप से बाहर निकली हुई-सी होती है। भारत में प्रायः इसी प्रकार के पुच्छल अस्त्राग्र अधिक मिलते हैं।

चित्र सं०—४८,
प्राथमिक-पुच्छल अस्त्राग्र (½)
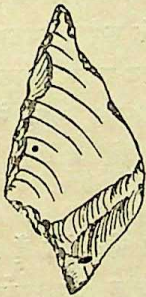
२—द्विस्कंध-पुच्छल अस्त्राग्र (Double Shouldered Tanged Point)

भारत में इस प्रकार के अस्त्राग्र असाधारण हैं। इनमें समन्तान्त की दोनों भुजाओं पर इस प्रकार से पुनर्गठन करते हैं कि दोनों किनारों

पर पुच्छल की बगल में स्कंध बन जाता है और बीच में पुच्छल निकल आता है। इस प्रकार के विकसित अस्त्राग्र आटेरियन संस्कृति के विशिष्ट उपकरणों में हैं।

चित्र सं०—४६, द्विस्कंध अस्त्राग्र ($\frac{3}{4}$)
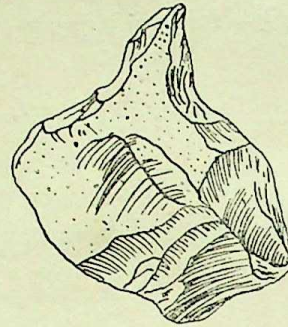
चित्र सं०—५०, छिद्रक ($\frac{3}{4}$)

छिद्रक (Borer)

ऐसे उपकरण को कहते हैं, जिसमें एक अन्त नोक के रूप में बाहर निकला रहता है। कोर अथवा फलक के एक अन्त को दोनों पार्श्वों से पुनर्गठन द्वारा भुथड़ा करके मोटा नोक बनाते हैं। इसके लिए प्रायः ऐसे फलक अथवा कोर को चुनते हैं, जिनमें इस प्रकार का नोक स्वाभाविक रूप से निकला होता है। ऐसी स्थिति में उन्हें केवल भुथड़ा करना पड़ता है, किन्तु जब इस प्रकार का प्राकृतिक प्रस्तर खण्ड नहीं मिलता है तब फलक अथवा कोर पर जहाँ नोक बनानी है उसके दोनों ओर खात (Notch) बनाकर उसे इस प्रकार से गढ़ते हैं कि मोटी नोक बन जाती है। छिद्रक-कार्यांग की उलटी दिशा का अन्त अथवा समन्तान्त इस प्रकार का होता है कि उसे हाथ से पकड़ा जा सके। कभी-कभी वहाँ पर पुच्छल (Tang) भी मिलता है। इसको, सम्भवतः मढ़ने की सुविधा के दृष्टिकोण से बनाया जाता था।

ब्लेड (Blade)

ब्लेड ऐसे फलकों को कहते हैं, जिनकी लम्बाई चौड़ाई से अधिक होती है तथा भुजाएँ लगभग समानान्तर होती हैं। पहले विद्वानों की यह धारणा थी कि ब्लेड-फलकों का आविर्भाव बहुत बाद में हुआ, किन्तु वस्तुतः, ब्लेड-फलकों से लोग पूर्वपाषाण काल के अन्तिम युग में अवगत हो चुके थे। विकसित आशूलियन में ये बहुतायत से मिलते हैं। निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरणों तथा कोरों के ऊपर के फलक चिह्नों से स्पष्ट है कि ये लोग ब्लेड-फलक से अवगत थे। कब से उपकरण के रूप में इनका प्रयोग होने लगा यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि मध्य-पूर्वपाषाण काल में ब्लेड-फलक, उपकरण के रूप में प्रयुक्त होने लगे थे, किन्तु इनका प्रयोग बहुत सामान्य नहीं था। उच्च-पूर्वपाषाण काल में ब्लेड उपकरण सबसे विशिष्ट उपकरण हो जाते हैं। तकनीकी दृष्टिकोण से इनका सबसे अधिक विकास उच्च-पूर्वपाषाण काल तथा उत्तर-पाषाण काल में हुआ था।

मध्य-पूर्वपाषाण काल के अधिकांश ब्लेड-फलक अपेक्षाकृत चौड़े, मोटे तथा छोटे होते हैं। अधिकांशतया उनके आघात के अर्धशंकु गोलाकार एवं विकसित होते हैं।[1] इसके विपरीत उच्च-पूर्वपाषाण काल में ब्लेड-फलक अधिकांशतया मध्य-पूर्वपाषाणकालीन ब्लेड-फलकों की अपेक्षा सकरे, पतले अनुभाग

---

१ —मध्य-पाषाणकालीन ब्लेड-फलक की तकनीक के लिए देखिए, पृ० ४४-४६।

(Thin Section) के तथा लम्बे होते हैं। आघात का अर्धशंकु अविकसित तथा सपाट (Under-developed and Flat) होता है। मध्य तथा उच्च-पूर्वपाषाण कालों के ब्लेड-फलकों को देखने से उनका तकनीकी अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

मध्य-पूर्वपाषाण काल में ब्लेड-फलक विविध प्रकार के पत्थरों, अच्छे स्फटिकाश्म (Quartzite) फ्लिण्ट, (Flint) चर्ट (Chert) आदि तथा इस प्रकार के अन्य पत्थरों पर भी मिलते हैं। रुक्ष कण (Coarse Grained) के पत्थरों पर ये छोटे, चौड़े तथा अधिक मोटे अनुभाग के होते हैं। लम्बे, सकरे तथा पतले अनुभाग के ब्लेड केवल सूक्ष्म कणों (Fine Grained) वाले पत्थरों जैसे फ्लिण्ट, चर्ट तथा तत्सदृश पत्थरों पर ही मिलते हैं।

ब्लेड-उपकरणों को उनके पुनर्गठन के आधार पर अनेक भागों में विभाजित कर सकते हैं। पुनः प्रत्येक को उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा अनुभाग के आधार पर अनेक उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है।

ब्लेड तथा ब्लेड-फलकों को निम्नलिखित भागों में विभाजित करते हैं—

क—अनगठित ब्लेड (Unretouched Blade)

ख—पुनर्गठित ब्लेड (Retouched Blade)

क—अनगठित ब्लेड (Unretouched Blade)

चित्र सं०—५१ अनगठित ब्लेड (3/4)
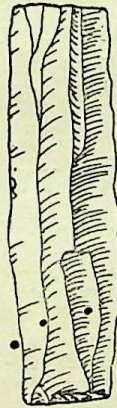
ये साधारण समानान्तर किनारों वाले ब्लेड-फलक होते हैं। इनके ऊपर किसी भी प्रकार का पुनर्गठन—धार को तेज अथवा भुथड़ा करने के लिए—नहीं मिलता है। साधारणतया विद्वान् इस प्रकार के ब्लेड को उपकरण की कोटि में नहीं रखते हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्र (Microscope) द्वारा इस प्रकार के ब्लेड-फलकों का सूक्ष्म अध्ययन करने से बहुतों पर रेखित चिह्न[1] (Striation Mark) स्पष्ट परिलक्षित होते हैं (देखिए चित्र सं०—५२)। ये इस बात के प्रमाण हैं कि बहुत से अनगठित ब्लेड-फलकों का भी प्रयोग उपकरण के रूप में किया जाता था।

ख—पुनर्गठित ब्लेड (Retouched Blade)

ऐसे ब्लेड-फलकों की कोई भुजा, दोनों भुजाएं या उनका भाग-विशेष पुनर्गठित होता है। पुनर्गठन किसी प्रकार का—धार को भुथड़ा अथवा तेज करने के लिए—हो सकता है। इन्हीं के आधार पर

---

१. लेखक ने श्री विद्याधर मिश्रा के सहयोग से, प्रोफेसर जी. आर. शर्मा के निर्देशन में, उपकरणों पर रेखित चिह्नों (Striation Marks) का सूक्ष्म अध्ययन किया है। यह अध्ययन अभी पूरा नहीं हुआ है।

ब्लेड को अनेक भागों एवं उपविभागों में विभाजित कर सकते हैं। पुनर्गठित ब्लेड-फलकों के प्रमुख उप-विभाग इस प्रकार हैं—
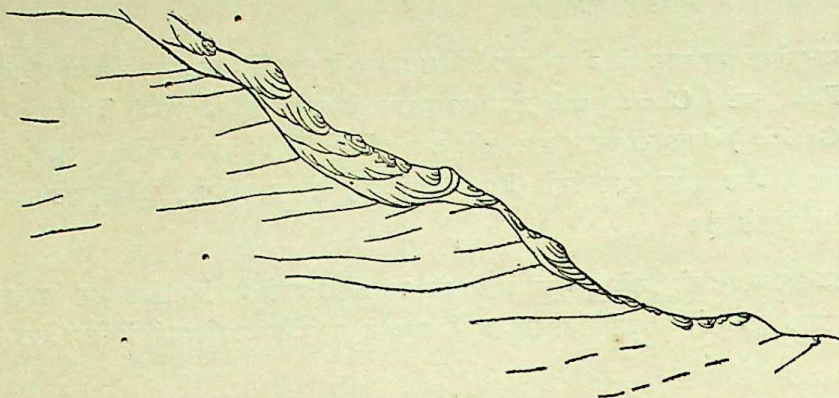
चित्र सं०—५२, रेखित चिह्न (१×१००)

एक-पार्श्व पुनर्गठित ब्लेड (One Side Retouched Blade)

इस प्रकार के ब्लेड-फलक प्रायः मोटे अनुभाग के होते हैं तथा उनका किनारा स्वतः तेज नहीं होता। उनको तेज करने के लिए ब्लेड के किसी भी पक्ष से छोटे-छोटे छिछले फलक निकालते हैं। कभी-कभी प्रयोग से भुथड़े हुए फलकों को भी तेज करने के लिए इस प्रकार का पुनर्गठन करते हैं। पुनर्गठन केवल एक ही पार्श्व पर करते हैं, दूसरे किनारे को यों ही अनगठित छोड़ देते हैं।

द्विपार्श्व पुनर्गठित ब्लेड (Both-Side Retouched Blade)

ये पहले के ही समान अथवा उससे अधिक चौड़े होते हैं। इस प्रकार के ब्लेड में दोनों किनारे एक पार्श्व पुनर्गठित ब्लेड के समान ही पुनर्गठित होते हैं। इस प्रकार के ब्लेड-फलक सामान्य नहीं होते हैं।

चित्र सं०—५३, एक-पार्श्व पुनर्गठित ब्लेड ($\frac{3}{4}$)

चित्र सं०—५४, द्विपार्श्व पुनर्गठित ब्लेड ($\frac{3}{4}$)

३—भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड (Blunted Back or Backed Blade)

ये भी समानान्तर किनारे वाले ब्लेड-फलक होते हैं। इनमें एक पार्श्व पुनर्गठन द्वारा भुथड़ा होता है तथा दूसरा किनारा, प्रायः, अनगठित होता है। उस पर प्रयोग के चिह्न भी प्रायः मिलते हैं। कभी-कभी धार को तेज करने के लिए पुनर्गठन के प्रमाण भी मिलते हैं। इस प्रकार के ब्लेड को नाइफ-ब्लेड (Knife Blade) भी कहते हैं।

भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड तिरछा पार्श्वन्ति कार्यांग (Gravette Knife)

इस प्रकार के ब्लेड भुथड़े-पृष्ठ ब्लेड के ही समान होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि

अनगठित पार्श्व का एक अन्त तिरछा होकर भुथड़े किनारे से नोक बनाता हुआ मिलता है। आकार में ये साधारण चाकू के ही समान होते हैं। तिरछा उन्नतोदर-पार्श्वान्त आकृतिक होता है।

चित्र सं०—५५, भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड (३/४)

चित्र सं०—५६ भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड तिरछा पार्श्वान्त कार्यांग (३/४)
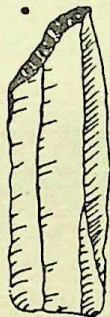
चित्र सं०—५७ तिरछा भुथड़ा-पार्श्वान्त-ब्लेड (३/४)

चित्र सं०—५८, तिरछा-भुथड़ा पृष्ठ-ब्लेड (३/४)
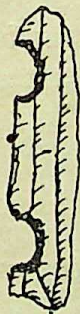
चित्र सं०—५९, खात-युक्त ब्लेड (१/२)

तिरछा भुथड़ा-पार्श्वान्त-ब्लेड (Obliquely Blunted-Blade)

इस प्रकार के ब्लेड का एक पार्श्व केवल एक अन्त पर तिरछे प्रकार से भुथड़ा, दूसरा पार्श्व सीधा तथा अनगठित होता है। प्रायः उस पर प्रयोग के चिह्न भी विद्यमान रहते हैं।

तिरछा-भुथड़ा पृष्ठ-ब्लेड (Obliquely Blunted-Back Blade)

इस प्रकार के ब्लेड का एक पार्श्व भुथड़ा होता है तथा अन्त पर तिरछा होकर नोक बनाता हुआ दूसरे पार्श्व से मिलता है। दूसरा पार्श्व साधारणतया अनगठित होता है, किन्तु उस पर प्रयोग के चिह्न प्रायः मिलते हैं। कभी-कभी किनारे को तेज़ करने के लिए पुनर्गठन के प्रमाण भी मिलते हैं, किन्तु ऐसे ब्लेड असाधारण होते हैं। तिरछे-भुथड़े पृष्ठ-ब्लेड को पेन-नाइफ ब्लेड (Pen-Knife Blade) भी कहते हैं।

खात-युक्त ब्लेड (Notched Blade)

ये साधारण ब्लेड के समान होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि ब्लेड-फलक के एक पार्श्व में खात अथवा अर्धवृत्ताकार नतोदर गड्ढा होता है, जिसे छोटे-छोटे फलक, निपीड प्रविधि से निकाल कर बनाते हैं। इस प्रकार के उपकरण का उपयोग सम्भवतः लकड़ी छीलने के लिए होता था। खात ब्लेड के किसी पार्श्व में किसी स्थान पर हो सकता है। कभी-कभी एक पार्श्व में दो खात भी मिलते हैं।

ब्यूरिन (Burin)

ब्यूरिन छेनी अथवा पेचकश-कार्यांग का उपकरण होता है। ये फलक अथवा कोर दोनों

पर मिलते हैं। मध्य-पूर्व तथा उच्च-पाषाणकालीन उपकरणों में इनका विशेष स्थान है। उच्च-पूर्वपाषाण काल का यह एक विशिष्ट उपकरण है। यदि यह कहें कि यूरोप में ब्लेड तथा ब्यूरिन उच्च-पूर्वपाषाण काल का आह्वान करते हैं, तो अनुचित नहीं होगा। कुछ काल पूर्व तक विद्वानों की यह धारणा थी कि भारत में वास्तविक ब्यूरिन नहीं मिलते हैं। किन्तु उनकी धारणा अपरिपक्व अनुसंधान पर आधारित थी। हाल में भारत के विभिन्न भागों में बहुत से स्थानों से ब्यूरिन प्राप्त हुए हैं।[१]

ब्यूरिन कार्यांग, पहले ही कहा जा चुका है, छेनी अथवा पेचकश के कार्यांग के समान होता है। यह किसी फलक अथवा कोर के पुष्ट अन्त अथवा कोण पर बनाया जाता है। ब्यूरिन कार्यांग अनेक पद्धतियों से बन सकते हैं। नून[१] के अनुसार इनको तीन प्रकार से बनाया जा सकता है।

ब्यूरिन कार्यांग बनाने की सबसे साधारण विधि के अनुसार ब्लेड, फलक अथवा कोर को लम्बवत् दिशा में रखते हैं। फिर उसके शीर्ष पर लम्बवत् दिशा में आघात करते हैं। फलतः एक तिरछा छोटा फलक शीर्ष भाग को आधे में विभाजित करता हुआ निकलता है, जिसके प्रमाणस्वरूप उस फलक अथवा कोर के ऊपर अर्धशंकु के गड्ढे का चिह्न (Negative Bulb of Percussion) तथा फलक-चिह्न स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस फलक-चिह्न को ग्रेवरमुख (Graver Facet) कहते हैं। बर्किट[२] के अनुसार ब्यूरिन की वास्तविक पहचान यही है। ग्रेवरमुख फलक निकालने के बाद बचे हुए अर्धांश पर आघात कर के पहले के ही समान फलक निकालते हैं। इस प्रकार से आवश्यकतानुसार एक या एक से अधिक फलक निकाले जाते हैं। शीर्ष-भाग के दोनों ओर से फलक निकालने के कारण शीर्ष पर छेनी अथवा पेचकश सदृश कार्यांग बन जाता है। यही ब्यूरिन कार्यांग होता है।

दूसरी विधि के अनुसार निपीड प्रणाली द्वारा यथेष्ट सावधानी से बहुत सकरे फलक निकाले जाते हैं। ये फलक प्रायः वक्राकार होते हैं। फलकों के विपक्ष में एक चौरस स्थल होता है, जो प्रायः अकृत्रिम होता है और उसे एक फलक निकालकर बनाया भी जा सकता है। दोनों के मिलने से जो कार्यांग बनता है उसे ब्यूरिन कार्यांग कहते हैं।

तीसरी विधि के अनुसार फलक के अन्त पर एक पार्श्व से बेड़ी अर्थात् फलक की मोटाई की दिशा से छोटे-छोटे फलक-निपीड प्रणाली से निकाले जाते हैं। ब्यूरिन कार्यांग का, एक किनारा होता है। दूसरा किनारा बनाने के लिए ऊपर से एक फलक निकाला जाता है। कभी-कभी एक से अधिक भी फलक आवश्यकतानुसार निकालते हैं।

इसके अतिरिक्त बहुत से फलकों तथा कोर के ऊपर यों ही ब्यूरिन कार्यांग मिलते हैं। ये अकृत्रिम होते हैं तथा अन्य उपकरण बनाते समय अथवा कोई फलक निकालने से अपने आप बन जाते हैं। चूंकि इनका कार्यांग ब्यूरिन कार्यांग के समान होता है, अतः स्वाभाविक है कि उसका प्रयोग भी ब्यूरिन के

---

१. देखिए पृ० ३०-३२।

२. नून, एच० वी० वी०—"ए क्लैसीफिकेशन आव फ्लिण्ट ब्यूरिंस आर ग्रेवर्स," जे० आर०, ए० आई०, वाल्यूम VXIV, पृ० ८१-९१।

३. बर्किट, एम० सी०—दी ओल्ड स्टोन एज, १९३३, पृ० ६३।

समान किया गया होगा।[1] प्रायः ऐसे अकृत्रिम ब्यूरिन कार्यांग पर भी प्रयोग के चिह्न मिलते हैं।

नून ने ब्यूरिन का विस्तृत विश्लेषण किया है। प्रायः निम्नलिखित प्रकार के ब्यूरिन मिलते हैं—

१—बेक्-द-फ्लूत (Bec-De-Flute)

जब ग्रेवरमुख के दूसरी ओर केवल एक फलक-चिह्न होता है, जैसा कि प्रथम विधि में बताया गया है, तो उसे बेक्-द-फ्लूत कहते हैं। यह सबसे साधारण प्रकार का ब्यूरिन होता है।
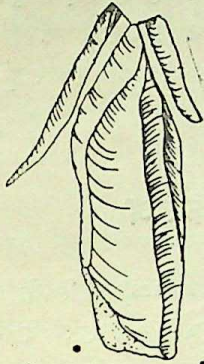
चित्र सं०—६०,
बेक्-द-फ्लूत ब्यूरिन
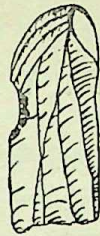
चित्र सं०—६१,
एक-समक्षेत्री ब्यूरिन
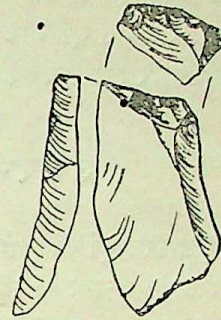
चित्र सं०—६२,
कोण ब्यूरिन

२—एक-समक्षेत्री ब्यूरिन (Single Faceted burin)

इस प्रकार के ब्यूरिन में ग्रेवरमुख के पीछे एक ही समक्षेत्र में एक से अधिक फलक निकाल कर कार्यांग बनाते हैं।

३—द्वि-समक्षेत्री ब्यूरिन (Double Faceted burin)

इस प्रकार के ब्यूरिन में दो ओर से फलक निकालते हैं, इसीलिए इसे द्वि-समक्षेत्री ब्यूरिन कहते हैं।

४—कोण ब्यूरिन (Angle burin)

इस प्रकार के ब्यूरिन में ग्रेवरमुख के दूसरी ओर का भाग पुनर्गठित होता है। पुनर्गठन छोटे-छोटे फलक निकाल कर करते हैं। जैसा कि नून की तृतीय विधि में होता है। पुनर्गठन की दिशानुसार इसके अन्य उप-विभाग किये जा सकते हैं, जैसे तिरछा-कोण ब्यूरिन अथवा अनुप्रस्थ-कोण ब्यूरिन (Transverse or Angle Burin)। इस प्रकार के ब्यूरिन में पुनर्गठन लम्बी धुरी से समकोण बनाते हुए किया जाता है। इसी प्रकार जब पुनर्गठित मुख उपकरण की लम्बी धुरी पर कोण बनाते हुए झुका होता है, तो उसे वक्र-कोण ब्यूरिन (Oblique Angle Burin) कहते हैं। ब्यूरिन भी पुनर्गठन की आकृति के अनुसार सीधा, नतोदर अथवा उन्नतोदर होता है।

---

१. नून, एच० वी० वी०—पार्श्वोद्धरित, पृ० ८१-९२।

ब्यूरिन के कार्यांग की रूपरेखा में बहुत विविधता मिलती है। नून की धारणा है कि यह विविधता तकनीक के कारण नहीं, परन्तु उपयोगिता के कारण होती थी। आवश्यकतानुसार उसका कार्यांग बनाया जाता था। इसी प्रकार ब्यूरिन की लम्बाई में भी बहुत विविधता मिलती है। प्रायः एक ही फलक के ऊपर एक से अधिक ब्यूरिन कार्यांग मिलते हैं। कभी-कभी एक ही फलक अथवा कोर पर चार ब्यूरिन-कार्यांग तक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्यूरिन-कार्यांग किसी अन्य उपकरण के किसी भुजा तथा अन्त पर भी मिल सकता है। जैसे, जब एक ही फलक अथवा कोर के पार्श्व अथवा अन्त पर स्क्रेपर कार्यांग तथा दूसरे पर ब्यूरिन कार्यांग होता है, तो उसे स्क्रेपर-ब्यूरिन उपकरण कहते हैं। नून ने इस प्रकार के उपकरणों को दस भागों में विभाजित किया है। आठ तो विभिन्न प्रकार के स्क्रेपरों पर हैं तथा बाकी दो में से एक ब्लेड (Knife) पर (जो स्वयं एक भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड का प्रकार है) तथा दूसरा छिद्रक पर। अन्तस्थ स्क्रेपर तथा छिद्रक पर ये अधिकतर मिलते हैं।

उत्तर-पाषाणकालीन प्रस्तर उपकरण

कुछ काल पूर्व तक भारत में लघु-पाषाण उद्योग (Microlithic Industries) की स्थिति, उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं था। किसी भी स्थान पर ये निश्चित भू-तात्त्विक स्तर से प्राप्त नहीं हुए थे। यों सतह पर बहुत स्थानों से मिले थे, किन्तु केवल उसके आधार पर उनके उद्भव तथा विकास के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता था। बहुत से स्थानों पर इनका प्रयोग प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल तथा दसवीं शताब्दी तक होता रहा है। यूरोप में लघु-पाषाण उद्योगों का विकास प्रातिनूतन काल के अन्त तथा नूतन के प्रारम्भ में होता है। इनका उद्भव उच्च-पूर्वपाषाण काल के ब्लेड उद्योगों से माना जाता है, किन्तु भारत में स्थिति कुछ भिन्न थी। विद्वानों की ऐसी धारणा थी कि भारत में उच्च-पूर्वपाषाणकालीन ब्लेड तथा ब्यूरिन उद्योगों का विकास नहीं हुआ। अतः इसी धारणा को ध्यान में रख कर सुब्बाराव ने सुझाव दिया कि भारत में लघु-पाषाण उद्योग का विकास अफ्रीका के समान मध्य-पाषाण युग के लेवालेवा उद्योग से हुआ होगा।[1] इस मत की पुष्टि के लिए भी कुछ ऐसे उद्योगों का प्रमाण आवश्यक है, जिन्हें मध्य-पाषाणकालीन तथा उत्तर-पाषाणकालीन उद्योग के बीच रखा जा सके किन्तु ऐसे प्रमाणों का भी नितान्त अभाव था।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, हाल में हुए अनुसंधान, इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय तथा महत्त्वपूर्ण हैं। इन अनुसंधानों ने विद्वानों की इस धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया है कि भारत में यूरोप के उच्च-पूर्वपाषाण काल के ब्लेड तथा ब्यूरिन के समान उद्योग (Upper Palaeolithic Blade and Burin Industry) का विकास नहीं हुआ। ब्लेड तथा ब्यूरिन उद्योग, आन्ध्र में करनूल[2] तथा चित्तूर[3],

---

१. सुब्बाराव, बी०—दी पर्सोनालटी आव इण्डिया, १९५८, पृ० ३९।

२. आइजक, एन०—दी स्टोन एज कल्चर्स आव कर्नूल, १९६१ (अप्रकाशित थीसिस), डेकन कालेज, पूना।

३. मूर्ति, एम० एल० के०—स्टोन एज कल्चर्स आव चित्तूर, १९६६ (अप्रकाशित थीसिस), डेकन कालेज, पूना, पृ० १७०।

मैसूर में शोरापुर दोग्राब[1], बम्बई में खाण्डिवली[2], नर्मदा की घाटी में बामेर नदी[3], उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद में बेलन के किनारे[4] आदि स्थानों से एक निश्चित-स्तर से मिले हैं, अर्थात् मध्य-पाषाण-युगीन (Midle Stone Age) तथा उत्तर-पाषाणयुगीन (Late Stone Age) स्तरों के मध्य के स्तर से। तकनीकी दृष्टिकोण से यूरोप तथा यहाँ के ब्लेड-ब्यूरिन उद्योगों में बहुत समता है। अन्तर केवल स्थानीय कहा जा सकता है। प्रमुख भेद केवल कालक्रम का ही माना जा सकता है। यूरोप में जिस स्तर से उच्च-पूर्वपाषाणकालीन उद्योग के प्रमाण मिलते हैं, उन्हें प्रातिनूतन काल में रखा जाता है, किन्तु यहाँ पर अभी तक प्राप्त प्रमाणों के अनुसार उन्हें उपर्युक्त काल में नहीं रखा जा सकता। मध्य-पूर्वपाषाण-युगीन उपकरणों को, जीवाश्मों के साक्ष्य के आधार पर, उच्च-प्रातिनूतन काल (Upper Pleistocene) में रखा जाता है।

मध्य-पाषाण काल अथवा मध्य-पूर्वपाषाण काल के उपकरण नदियों के द्वितीय उच्चयन काल (Second Aggradational Phase) से सम्बन्धित हैं तथा ब्लेड-ब्यूरिन उद्योग, जो सदैव ही इसके बाद आते हैं, उन्हें नदियों के तृतीय उच्चयन काल से सम्बन्धित कर सकते हैं। चूंकि ब्लेड तथा ब्यूरिन उद्योग मध्य-पूर्वपाषाण काल के उपकरणों के बाद के स्तर में मिलते हैं, अतः उन्हें उच्च-प्रातिनूतन काल (Upper Pleistocene) के अन्तिम तथा नूतन काल के प्रारम्भ में रखा जा सकता है। उपर्युक्त सभी स्थानों पर लघु-पाषाण उपकरण उद्योग, ब्लेड-ब्यूरिन उद्योग के ऊपर के स्तर से मिले हैं। लघु-पाषाण उद्योग को, जो उच्च-पूर्वपाषाणयुगीन उपकरणों के बाद आते हैं, उन्हें नूतन काल के प्रारम्भ के कुछ बाद ही रख सकते हैं। तकनीकी दृष्टिकोण से भी ब्लेड-ब्यूरिन उपकरण लघु-पाषाण उपकरणों के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। अभी तक हुए अनुसंधानों के आधार पर भारत के लघु-पाषाण उद्योग को हम पाँच या छः हजार वर्ष ई० पू० से अधिक नहीं ले जा सकते हैं। प्रो० ज्वाएनर ने टेरी[5] उद्योग की तिथि समुद्रीय जल-तल के परिवर्तन के आधार पर लगभग ४००० ई० पू० निश्चित की थी। लाल ने बीरभानपुर[6] तथा लेखक[7] ने

---

१. पद्दैया, के०—प्री ऐण्ड प्रोटोहिस्टारिक इंवेस्टिगेशन इन शोरापुर दोग्राब, १९६८ (अप्रकाशित थीसिस), डेकन कालेज, पूना, पृ० ६८।

२. टॉड, के० आर० यू०—'पेलियोलिथिक इण्डस्ट्रीज आव बाम्बे', ज० रॉ० एन्थ्रो इंस०, वाल्यूम LXIX, पृ० २५७-७२।

३. सेन डी० ऐण्ड घोष, ए० के०—लिथिक कल्चर-काम्प्लेक्स इन दी प्लायस्टोसीन सीक्वेंस आव द नर्मदा वेली। रि० डि० सा० प्री०, १९६३, वाल्यूम XVIII।

४. एक्सप्लोरेशन इन डिस्ट्रिक्ट इलाहाबाद, मिर्जापुर एण्ड शाहजहाँपुर डिस्ट्रिक्ट—इण्डियन आर्क्या-लजी—ए रिव्यू, १९६६-६७ (प्रेस में)।

५. ज्वाएनर, एफ० ई०, अलचिन, बी०—'दी माइक्रोलिथिक साइट्स आव टिनेवेली डिस्ट्रिक्ट मद्रास स्टेट' ए० इ० नं० ६, पृ० ७-८।

६. लाल, बी० बी०—'बीरभानपुर, ए माइक्रोलिथिक साइट इन दी दामोदर वेली, वेस्ट बंगाल, ए० इ० न० १४, पृ० ३८।

७. वर्मा, आर० के०—दी स्टोन एज कल्चर्स आव मिर्जापुर (अप्रकाशित थीसिस), इलाहाबाद तथा प्री-हिस्ट्री—१९६४, पृ० ४४६।

मिर्जापुर (भैंसोर) के अ-ज्यामितिक प्राक्पाटरी (Non-geometric Pre-pottery) लघु-पाषाण उद्योग की वही तिथि दी थी, जो ज्वाएनर ने टेरी उद्योग को दिया। लंघनाज से प्राप्त हड्डियों के एक सेम्पुल टी० एफ० ७४४ की तिथि २०४० ई० पू० आई है। लेखहिया[1] के प्राचीनतम कंकाल की तिथि २४१० ई० पू० आई है। लंघनाज तथा लेखहिया के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना उचित होगा कि जिस स्तर से ये तिथियाँ आयी हैं वह स्तर 'अ-ज्यामितिक लघु-पाषाण उद्योग' का नहीं है। अभी तक प्राप्त प्राचीनतम तिथि आदमगढ़ शिलाश्रय में प्राप्त शैल् (Shell) के सैम्पुल T. F. १२० की है। इसकी तिथि ५५०० ई० पू० है। अभी तक प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर भारत के लघु-पाषाण उद्योग की प्रारम्भिक तिथि कम से कम ६००० ई० पू० तथा अन्तिम तिथि १५०० ई० पू० के लगभग निर्धारित की जा सकती है।

लघु-पाषाण उद्योग की उत्पत्ति तथा विकास की समस्या पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसंधान विशेष प्रकाश डालते हैं। इलाहाबाद[2], बनारस तथा मिर्जापुर में बहुत से आवासों पर ऐसे उद्योग मिले हैं, जिन्हें न तो ब्लेड-ब्यूरिन उद्योग के साथ रख सकते हैं और न वे लघु-पाषाण उद्योग के साथ ही जाते हैं। किन्तु उन उद्योगों के उपकरणों के अध्ययन से उनमें एक विकासात्मक क्रम देखा जा सकता है। इन उद्योगों के उपकरणों में ब्लेड तत्त्व की प्रधानता है और क्रमशः लघुतर होने की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः देखी जा सकती है। उनको देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि उत्तर-पाषाणकाल (Late Stone Age or Mesolithic) के लघु-पाषाण उद्योगों की उत्पत्ति इन्हीं से हुई।

कुछ काल पूर्व तक लघु-पाषाण उद्योगों के विकास की भी स्थिति स्पष्ट नहीं थी। प्रायः सभी स्थानों पर लघु-पाषाण उपकरण मिले-जुले मिलते थे, अतः उनके विकासात्मक क्रम के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं था। इस सम्बन्ध में मिर्जापुर के मोरहना पहाड़ तथा बघहीखोर (भैंसोर ग्राम के निकटवर्ती) के उत्खनन विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों स्थानों पर निम्नतर स्तर से अ-ज्यामितिक उपकरण मिले, जो मृद्भाण्डों से सम्बन्धित नहीं थे। उसके ऊपर के स्तर से ज्यामितिक उपकरण मृद्भाण्डों के साथ मिले। सम्बन्धित मृद्भाण्ड हस्त-निर्मित प्रतीत होते हैं। अन्तिम स्तर से प्राप्त उपकरण दूसरे स्तर के उपकरणों के ही समान थे, किन्तु आकार में अपेक्षाकृत ये बहुत छोटे हो जाते हैं। मोरहना पहाड़ तथा बघहीखोर के उत्खनन के साक्ष्यों को लेखहिया के उत्खनन ने पुष्ट किया। इसके अतिरिक्त वहाँ के उत्खनन से इस पर भी प्रकाश पड़ा कि मृद्भाण्ड कला के विकास के पूर्व ही ज्यामितिक उपकरणों का विकास हो चुका था।

उपकरण

उपकरण की संज्ञा केवल ऐसे लघु-पाषाणों को दी जाती है, जिन पर पुनर्गठन के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। अपवाद के रूप में अनगठित ब्लेड अथवा ब्लेड-फलकों को भी उपकरण की श्रेणी में रखा जाता है, यदि उन पर प्रयोग के चिह्न (Use Marks) स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। प्रयोग के चिह्न इस बात के प्रमाण हैं कि उनका प्रयोग उपकरणों के रूप में किया गया था।

---

१. C^{14} डेट लिस्ट, दिसम्बर १९६७, पृ० २ (साइक्लोस्टाइल प्रति)।

२. ऐसे आवासों में, इलाहाबाद में चोपनीमाण्डो आदि, मिर्जापुर में भैंसोर के निकटवर्ती स्थान तथा कोन, बनारस में बैरा-दो-मुहवा तथा निकटवर्ती आवास तथा मध्यप्रदेश के रीवा जिले में कोरिया आदि कुछ आवासों की गणना की जा सकती है।

इस उद्योग के विभिन्न उपकरणों का निर्माण ब्लेड अथवा छोटे फलकों पर पुर्नगठन कर के किया जाता है। पुनर्गठन विधि तथा स्थान में परिवर्तन कर के ही विभिन्न प्रकार के उपकरणों का निर्माण होता है। अधिकांश उपकरणों पर पुनर्गठन, किसी पार्श्व के भाग विशेष, एक पार्श्व अथवा एक से अधिक पार्श्वों को भुथड़ा करने के लिए होता है। कार्यांग को तेज करने के लिए भी पुनर्गठन किया जाता था, किन्तु केवल विशेष अवस्थाओं में ही।

सभी लघु-पाषाण उपकरणों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—अ-ज्यामितिक उपकरण (Non-geometric Tools)

२—ज्यामितिक उपकरण (Geometric Tools)

लघु-पाषाण उद्योग के विकास-क्रम में अ-ज्यामितिक उपकरण पहले आते हैं। ज्यामितिक प्रकार के उपकरण, जिनमें त्रिभुज (Triangle), विषमकोण, समलम्बचतुर्भुज (Trapeze), चतुर्भुजाकार (Trapezoid), अनुप्रस्थ वाणाग्र (Transverse Arrow Head) आदि की गणना की जाती है, का विकास बाद में होता है। अन्य उपकरण दोनों ही में समान रूप से मिलते हैं।

कोर (Core)

लघु-पाषाण कोर को दो प्रधान भागों में विभाजित करते हैं—

१—साधारण कोर (Simple Core)

२—फ्लूटेड कोर (Fluted Core)

साधारण कोर (Simple Core)

ये अकृत्रितम कोर होते हैं। इस प्रकार के कोरों से विविध आकार-प्रकार के फलक अनियन्त्रित फलकीकरण द्वारा सभी तरफ से निकाले जाते हैं। इस प्रकार के कोर प्रायः, अ-ज्यामितिक लघु-पाषाणोपकरणों के साथ अथवा ऐसे उद्योगों में, जिनमें अधिकांश उपकरण साधारण फलकों पर बनाये जाते हैं, अधिक मिलते हैं।
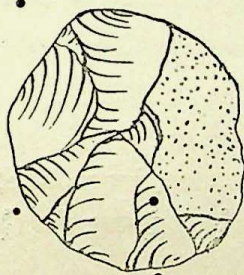
चित्र सं०—६३, साधारण कोर (१/१)

फ्लूटेड कोर (Fluted Core)

ये कृत्रिम कोर होते हैं, जिन्हें समानान्तरबाहु-ब्लेड (Parallel Sided Blades) निकालने के लिए विशेष प्रकार से बनाया जाता है। समानान्तरबाहु-ब्लेड निकालने के कारण कोर के ऊपर समानान्तर रेखाएँ अथवा नालियाँ-सी बनी होती हैं। इस प्रकार के कोरों के ऊपर कृत्रिम आघात-स्थल (Prepared Striking Platform) होता है। एक कोर पर एक अथवा एक से अधिक इस प्रकार के कृत्रिम आघात-स्थल होते हैं।

आकार के आधार पर फ्लूटेड कोरों को कम से कम पांच उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है—

१—शंक्वाकार कोर (Conical)
२—बेलनाकार कोर (Cylindrical)
३—दीर्घ-वृत्ताकार कोर (Elliptical)
४—छेन्यान्त कोर (Chisel-ended)
५—समतलीय कोर (Flat-based)

शंक्वाकार कोर (Conical Core)

जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, एक अन्त नुकीला तथा दूसरा गोलाकार होता है। देखने में ये कुप्पी (Funnel) के समान लगते हैं। इनमें प्रायः एक ही कृत्रिम आघात-स्थल होता है। फलक कोर की लम्बान से निकाले जाते हैं। इस प्रकार के कोर से निकाले गए फलक प्रायः एक अन्त पर सकरे होते हैं।

बेलनाकार कोर (Cylindrical Core)

ये आकृति में बेलन के समान होते हैं। इनके दोनों अन्त पर कृत्रिम आघात-स्थल होते हैं। फलक क्रमशः दोनों स्थलों से निकाले जाते हैं। निकाले गए फलक एकदम समानान्तर बाहु (Parallel Sided) होते हैं।

दीर्घ-वृत्ताकार कोर (Elliptical Core)

ये भी बेलनाकार कोरों के ही समान होते हैं, किन्तु इनका अनुभाग गोलाकार न होकर दीर्घ-वृत्ताकार होता है। इनमें भी आघात-स्थल दोनों अन्त पर होते हैं तथा फलक दोनों स्थलों से क्रमशः निकाले जाते हैं। इनसे निकाले गए फलक भी समानान्तर बाहु होते हैं।
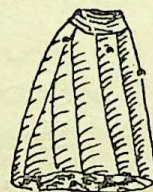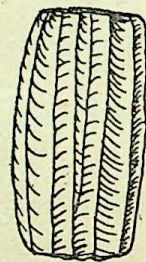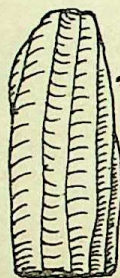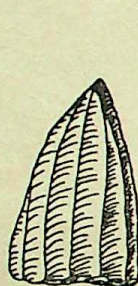
चित्र सं०—६४, शंक्वाकार कोर (½)　चित्र सं०—६५, बेलनाकार कोर (½)　चित्र सं०—६६, दीर्घ-वृत्ताकार कोर (½)　चित्र सं०—६७, छेन्यान्त कोर (½)

छेन्यान्त कोर (Chisel-ended Core)

इसका एक अन्त छेनी कार्यांग के समान होता है। छेन्यान्त बनाने के लिए प्रायः अन्त के शीर्ष-भाग से आघात कर के फलक इस प्रकार निकालते हैं कि छेन्यान्त बन जाता है। सम्भवतः किसी विशेष प्रयोजन से इस प्रकार का अन्त बनाते थे। इनका उपयोग साधारण ब्यूरिन के समान भी किया जा सकता है। इस प्रकार के कोरों से निकाले गए फलक एकदम समानान्तर बाहु होते हैं।

समतलीय कोर (Flat-based Core)

ये किसी भी आकार के हो सकते हैं। इसकी विशेषता उसके चौरस तल में होती है। इस प्रकार के कोर में कई आघात-स्थल हो सकते हैं।

फलक (Flake)

लघु-पाषाण उद्योग के सभी फलकों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—असमानान्तर बाहु फलक
२—समानान्तर बाहु फलक
३—कोर पुनुरुज्जावन फलक

असमानान्तर बाहु फलक

इसमें सभी फलक आ जाते हैं, जो समानान्तर बाहु नहीं होते हैं। ऐसे फलक प्रायः प्राथमिक फलकीकरण के कारण अथवा अबाध फलकीकरण के कारण निकलते हैं। अधिकांश फलकों पर पुनर्गठन एवं प्रयोग के चिह्न नहीं मिलते हैं, अतः उन्हें उपकरण के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है। इस प्रकार के फलक फैक्ट्री साइट (Factory Site) पर बहुतायत से मिलते हैं।

समानान्तर बाहु फलक

इसके अन्तर्गत सभी समानान्तर बाहु फलक आते हैं। ये प्रायः सकरे तथा पतले अनुभाग के होते हैं और उनकी दोनों भुजाएँ समानान्तर होती हैं। इस प्रकार के ब्लेड फलकों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

अ—जिन पर पुनर्गठन अथवा प्रयोग के प्रमाण नहीं होते हैं।
ब—जिन पर केवल प्रयोग के प्रमाण होते हैं।
स—जिन पर पुनर्गठन के प्रमाण होते हैं।

अ—प्रथम श्रेणी के समानान्तर बाहु फलकों पर पुनर्गठन अथवा प्रयोग के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इन्हें परित्यक्त फलकों की श्रेणी में रखा जाता है। ये ऐसे फलक होते हैं जिनका, अनुमानतः, प्रागैतिहासिक मानव के लिए कोई भी उपयोग नहीं था।

ब—दूसरे श्रेणी के फलकों पर भी पुनर्गठन के प्रमाण नहीं मिलते हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप से देखने पर उनके ऊपर प्रयोग के चिह्न अवश्य देखे जा सकते हैं। चूंकि प्रागैतिहासिक मानव ने इन ब्लेड फलकों का प्रयोग उपकरण के रूप में किया था, अतः इन्हें बिना आपत्ति उपकरण के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

स—तीसरी श्रेणी के ब्लेड-फलकों पर पुनर्गठन के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, अतः इन्हें पुनर्गठित ब्लेड कहना चाहिए। ये ही वास्तव में उपकरण की श्रेणी में आते हैं। ब्लेड-फलकों पर पुनर्गठन दो प्रकार का मिलती है।

क—कार्यांग को तीक्ष्ण करने के लिए
ख—स्थान विशेष को भुथड़ा करने के लिए

क—कार्यांग को तीक्ष्ण करने के लिए पुनर्गठन बहुत कम मिलता है, क्योंकि फलकों के किनारे स्वयं ही इतने तीक्ष्ण होते हैं कि उन पर पुनर्गठन की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु जब किनारे स्वयं तीक्ष्ण नहीं होते अथवा प्रयोग के कारण भुथड़े हो जाते हैं तब उन्हें फिर से तीक्ष्ण करने से लिए इस प्रकार के पुनर्गठन की आवश्यकता होती है। पुनर्गठन के स्थान तथा प्रकार के आधार पर इनको पुनः अनेक उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है।[1] जैसे दोनों भुजाओं में, अथवा केवल एक भुजा में, फलक के पृष्ठ-पक्ष से अथवा उदर-पक्ष से दोनों भुजाओं में अथवा एक में आदि-आदि प्रकार से। कभी-कभी बहुत ही विशेष परिस्थितियों में उभयपक्षीय (Bifacial) पुनर्गठन भी मिलता है। इसके आधार पर भी उनके उपविभाग किए जा सकते हैं।

ख—जब ब्लेड की कोई एक भुजा पुनर्गठन के द्वारा भुथड़ी कर दी जाती है तब उस ब्लेड को भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड (Blunted-back Blade) कहते हैं। अनुमानतः, इस प्रकार का पुनर्गठन ब्लेड को किसी लकड़ी आदि में मढ़ने की सुविधा के दृष्टिकोण से किया जाता था, क्योंकि तीक्ष्ण धार अपने मूठ को ही काटने लगती है।

भुथड़े-पृष्ठ ब्लेड अनेक प्रकार के होते हैं। उनको निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

समानान्तरबाहु भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड (Parallel-sided Blunted-back Blade)

इसमें दोनों समानान्तर भुजाओं में से कोई एक भुजा भुथड़ी होती है तथा दूसरी भुजा प्रायः अनगठित होती है। विशेष अवस्थाओं में जब वे मोटे अनुभाग के होते हैं अथवा पार्श्व-कार्यांग स्वयं तीक्ष्ण नहीं होता तब उसे तीक्ष्ण करने के लिए पुनर्गठन किया जाता था।
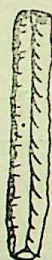
चित्र सं०—९८, समानान्तरबाहु भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड (१/१)   चित्र सं०—९९, तिरछा-भुथड़ा पृष्ठ-ब्लेड (१/१)

तिरछा-भुथड़ा पृष्ठ-ब्लेड (Obliquely-blunted-back blade)

यह भी पहले प्रकार के ही समान होता है, अन्तर मात्र इतना है कि भुथड़ा पृष्ठान्त तिरछा होकर दूसरे पार्श्व से नोक बनाता हुआ मिलता है।

---

१. अधिक विस्तृत विवेचना के लिए देखिए—वर्मा, आर० के०—दी स्टोन एज कल्चर्स आव मिर्जापुर, १९६५ (अप्रकाशित थीसिस), इलाहाबाद यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी।

भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड तिरछा पाश्र्वान्त कार्यांग (Micro-Gravette Knife)

इस प्रकार के ब्लेड में सीधी भुजा गठित होती है तथा दूसरी अनगठित भुजा एक अन्त पर तिरछी होकर भुथड़ी भुजा से मिलती है।

चित्र सं० —७०,
भुथड़ा-पृष्ठ ब्लेड तिरछा पाश्र्वान्त कार्यांग ($\frac{3}{1}$)
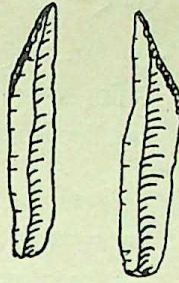
चित्र सं०—७१,
तिरछा-भुथड़ा पाश्र्वान्त ब्लेड (१=१$\frac{1}{4}$)
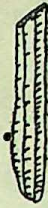
चित्र सं०—७२,
रुण्डित ब्लेड ($\frac{1}{1}$)

तिरछा-भुथड़ा पाश्र्वान्त ब्लेड (Obliquely-blunted blade)

इनका एक पाश्र्वान्त भुथड़ा होकर दूसरे पार्श्व से नोक बनाते हुए मिलता है। दोनों में से कोई भी पाश्र्वान्त भुथड़ा हो सकता है।

रुण्डित ब्लेड (Truncated blade)

ये भी तिरछे-भुथड़े पाश्र्वान्त ब्लेड के ही समान होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि ये तिरछे प्रकार से भुथड़ा न होकर कटा हुआ होता है।
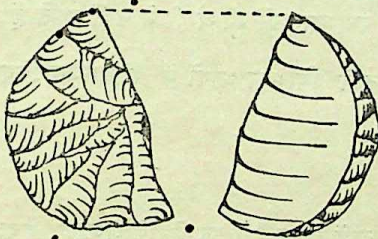
चित्र सं०—७३,
कोर पुनुरुज्जावन फलक 'अ' ($\frac{1}{1}$)
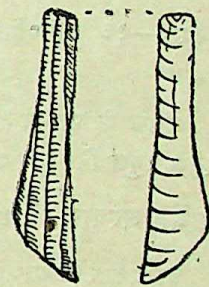
चित्र सं०—७४,
कोर पुनुरुज्जावन फलक 'ब' ($\frac{1}{1}$)

कोर पुनुरुज्जावन फलक (Core-Rejuvenation Flake)

ये विशिष्ट प्रकार के फलक होते हैं, जिन्हें कोर को पुनर्जीवित करने के लिए निकाला जाता है। एक बार सभी ओर से फलक निकाल लेने पर कोर इस योग्य नहीं रह जाते कि उनसे और फलक निकाले

जा सक । कोर को पुनः फलक निकालने के योग्य बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उन्हें फिर से गढ़ा जावे । इस प्रकार के कोर को गढ़ने के लिए जिन फलकों को निकालते हैं, उन्हें कोर पुनुरुज्जावन फलक (Core-rejuvenation Flake) कहते हैं ।
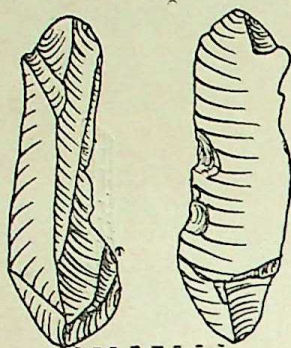
चित्र सं०—७५,
कोर पुनुरुज्जावन फलक 'स' ($\frac{1}{1}$)
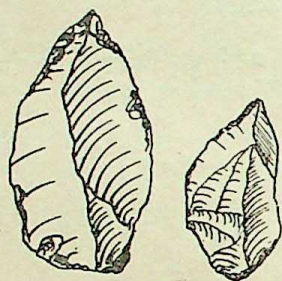
कोर पुनुरुज्जावन फलक प्रमुखतः तीन प्रकार के होते हैं—

अ. जिन्हें, केवल कोर के आघात-स्थल को सुधारने के लिए निकाला जाता है । इन पर किनारे की ओर, पहले निकाले गए, फलकों के आघात-स्थल के चिह्न होते हैं ।

ब. जिन्हें, कोर की एक भुजा को सुधारने के लिए निकाला जाता है । इनके पृष्ठ-पक्ष पर फ्लूटिंग के निशान होते हैं तथा उदर-पक्ष में फलक-तल होता है ।

स. जिन्हें, कोर के आघात-स्थल तथा भुजा दोनों को सुधारने के लिए निकलाते हैं, इस प्रकार के फलकों का फलक-तल अधिकांशतया नतोदर होता है ।

चित्र सं०—७६, अनियमित अस्त्राग्र ($\frac{1}{1}$)

वाणाग्र अथवा अस्त्राग्र (Points)

वाणाग्र अथवा अस्त्राग्र के अन्तर्गत ऐसे उपकरणों की गणना की जाती है जिनका एक अन्त नुकीला (Pointed) होता है तथा जिन्हें वाणाग्रों के समान प्रयुक्त किया जा सकता है । इसमें केवल ऐसे ही फलक रखे जाते हैं, जिनमें नोक को बनाने के प्रमाण स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं । स्वतः नुकीले फलकों को केवल आकारगत समता के आधार पर वाणाग्रों की श्रेणी में नहीं रखते हैं ।

फलक के आकार तथा पुनर्गठन के आधार पर इनको विभिन्न भागों में विभाजित किया जाता है । इसके प्रमुख विभाजन इस प्रकार हैं—

अनियमित अस्त्राग्र (Irregular Point)

इस प्रकार के अस्त्राग्रों का कोई नियमित आकार नहीं होता है । इनकी विशिष्टता केवल इनके नोक में ही होती है तथा पुनर्गठन भी प्रायः केवल नोक पर ही मिलता है । कभी-कभी समन्तान्त पर भी पुनर्गठन उपकरण को मढ़ने के दृष्टिकोण से किया जाता था । उपकरण के अन्य भाग प्रायः अनगठित ही रहते हैं ।

नियमित अस्त्राग्र (Regular Point)

इस वर्ग में लम्बे नुकीले अस्त्राग्रों की गणना की जाती है । ये अधिकांशतया लम्बे, पतले ब्लेड-

फलकों पर बने होते हैं। नोक बनाने के लिए कभी एक भुजा तथा कभी दोनों भुजाओं के अन्त पर पुनर्गठन किया जाता है। ऐसे भी अस्त्राग्र प्रायः मिलते हैं, जिनमें दोनों भुजाएँ एक अन्त से दूसरे अन्त तक पुनर्गठित होती हैं। इस प्रकार के अस्त्राग्र बहुत सुडौल तथा 'Λ' आकृति के होते हैं।

चित्र सं०—७७,
नियमित अस्त्राग्र ($\frac{1}{1}$)

अर्धचन्द्राकार अस्त्राग्र (Crescentic Point)

इस श्रेणी के अस्त्राग्रों की एक भुजा सीधी तथा दूसरी नीचे की ओर अर्धचन्द्राकार होती है। वही भुजा ऊपर की ओर नोक बनाते हुए दूसरी भुजा से मिलती है। इस प्रकार के अस्त्राग्र बहुत अंशों में अनियमित अर्धचान्द्रिक (Irregular Lunate) के समान लगते हैं। किन्तु इनका नोकान्त (Pointed-end) इतना स्पष्ठ होता है कि उन्हें अस्त्राग्र की ही कोटि में रखा जाता है। कभी-कभी दूसरी भुजा के नोकान्त पर पुनर्गठन भी मिलता है।

चित्र सं०—७८,
अर्धचन्द्राकार अस्त्राग्र
($\frac{1}{1}$)
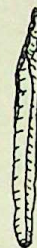
चित्र सं०—७९,
तिरछा-पाश्वन्ति पुनर्गठित
अस्त्राग्र ($\frac{1}{1}$)

तिरछा-पाश्वन्ति पुनर्गठित अस्त्राग्र (Obliquely Retouched Point)

ये बहुत अंशों में तिरछे-भुथड़े पाश्वन्ति ब्लेड के ही समान होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि ये बहुत सकरे होते हैं तथा केवल एक अन्त पर ही नोक बनाने के लिए तिरछी दिशा में पुनर्गठन किया जाता है। इस प्रकार का तिरछा पुनर्गठन बाएँ अथवा दाहिने किसी भी पार्श्व में हो सकता है।

त्रिकोणात्मक अस्त्राग्र (Triangular Point)

नाम से ही यह स्पष्ट है, ये त्रिभुजात्मक होते हैं, किन्तु फिर भी त्रिभुज से भिन्न होते हैं। इस प्रकार के अस्त्राग्र में दो भुजाएँ अपेक्षाकृत अधिक लम्बी होती हैं। तीसरी तथा छोटी भुजा तिरछी ओर प्रायः नतोदर-सी होती है, जिससे अस्त्राग्र के नीचे का भाग पुच्छल (Tang) के समान निकला हुआ लगता है। इस प्रकार के अस्त्राग्र प्रायः ज्यामितिक प्रकार के उपकरणों में ही अधिक मिलते हैं।

उपत्रिकोणात्म अस्त्राग्र (Sub-triangular Point)

यह उपकरण बहुत अंशों में तिरछा-भुथड़ा पाश्वन्ति ब्लेड के समान होता है। अन्तर केवल इतना है कि ये अपेक्षाकृत अधिक सकरे होते हैं। दोनों लम्बी भुजाएँ कार्यांग की ओर अधिक चौड़ी

तथा तिरछे-भुथड़ी होती हैं। समन्तान्त की ओर वे खण्डित होती हैं। फलतः खण्डितान्त एक बहुत छोटी चौथी भुजा बनाता है। ऐसे उपकरणों को उपत्रिकोणात्मक अस्त्राग्र कहते हैं।
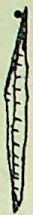
चित्र सं०—८०,
त्रिकोणात्मक अस्त्राग्र (१/२)

चित्र सं०—८१,
उपत्रिकोणात्मक अस्त्राग्र (१/२)

अर्धचान्द्रिक (Lunate)

इसके नाम से ही स्पष्ट है कि ये अर्धचन्द्र के समान होते हैं अर्थात् एक भुजा सीधी होती है और दूसरी उसके ऊपर वृत्तांश बनाती है। साधारणतया वृत्तांश (Arc) भुथड़ा तथा सीधी भुजा अनगठित होती है।

अर्धचान्द्रिक लघु-पाषाणोपकरण उद्योग का एक विशिष्ट उपकरण है। सभी स्थानों में उत्तर-पाषाणकालीन (Late Stone Age or Mesolithic) सभी स्तरों में बहुतायत से मिलता है। प्रारम्भिक स्तर के अर्धचान्द्रिक प्रायः आकार-प्रकार में अपेक्षाकृत बहुत बड़े तथा रुक्ष होते हैं। किन्तु बाद में ये क्रमशः सुडौल और सुन्दर होते जाते हैं।

बनावट के आधार पर इन्हें कई भागों में विभाजित किया जा सकता है—

सबसे साधारण प्रकार के अर्धचान्द्रिक ('अ') में वृत्तांश भुथड़ा तथा सुडौल होता है और चौड़ान लम्बान के आधे से कम होती है। कुछ में वृत्तांश का अन्त बाहर की ओर निकला हुआ तथा अन्य में अन्दर की ओर होता है। कभी-कभी उनकी नोक कटी हुई भी होती है। इन विशेषताओं के आधार पर इसके अन्य उपविभाग किए जा सकते हैं।

दूसरे प्रकार के अर्धचान्द्रिक में वृत्तांश लगभग अर्धवृत्त बनाता है। कभी-कभी इनकी चौड़ान लम्बान के आधे से अधिक होती है। इस प्रकार के अर्धचान्द्रिक में अधिकांशतया उनका वृत्तांश-पृष्ठ बहुत मोटा होता है।

अ ब स

चित्र सं०—८२, अर्धचान्द्रिक (१/२)

तीसरे प्रकार के अर्धचान्द्रिक अपेक्षाकृत नगण्य हैं । अभी तक वर्णित दोनों ही प्रकार के अर्धचान्द्रिक में वृत्तांश-पृष्ठ भुथड़ा होता है । किन्तु इस वर्ग के अर्धचान्द्रिक में वृत्तांश के अतिरिक्त तृज्या (Chord) भी भुथड़ी होती है ।

स्क्रेपर (Scraper)

स्क्रेपर पाषाण युग के उन विशिष्ट उपकरणों में से हैं, जो निम्न-पूर्वपाषाणकाल (Lower Palaeolithic Period) से उत्तर-पाषाण काल (Mesolithic) तक सभी स्तरों में मिलते हैं। विभिन्न काल के स्क्रेपरों में केवल आकारगत भेद मिलता है । इनके प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

चित्र सं०—८३, पार्श्व-स्क्रेपर $(\frac{1}{1})$

पार्श्व-स्क्रेपर (Side Scraper)

ये प्रायः मोटे फलक अथवा कोर की लम्बी भुजा पर पुनर्गठन द्वारा बनाये जाते हैं। चूँकि कार्यांग फलक अथवा कोर के किसी पार्श्व पर होता है । अतः इसे पार्श्व स्क्रेपर की संज्ञा प्रदान की जाती है । कर्यांग को बनाने के लिए पुनर्गठन प्रायः पृष्ठ-पक्ष से करते हैं, किन्तु कभी-कभी उदर-पक्ष से भी किया जाता है । पुनर्गठन कार्यांग को तीक्ष्ण करने के दृष्टिकोण से करते हैं ।

अन्तस्थ-स्क्रेपर (End Scraper)

इस प्रकार के स्क्रेपर में कार्यांग फलक अथवा कोर के अन्त अथवा छोटी भुजा पर होता है। कार्यांग बनाने के लिए ऊपर के तल से बहुत ढालदार (Steep) पुनर्गठन करते हैं। कार्यांग सीधा (Straight) अथवा उन्नतोदर (Convex) होता है ।

अ

ब

चित्र सं०—८४, अन्तस्थ-स्क्रेपर $(\frac{1}{1})$

अंगुष्ठ-नख स्क्रेपर (Thumb-nail Scraper)

यह नाम से स्पष्ट है कि ये बहुत छोटे तथा अंगुष्ठ के नाखून के आकार के होते हैं। इनका कार्यांग प्रायः उन्नतोदर (Convex) होता है। कभी-कभी इनको उन्नतोदर स्क्रेपर की संज्ञा भी प्रदान की जाती है ।

चित्र सं०—८५, अंगुष्ठ-नख स्क्रेपर (१/१)

चित्र सं०—८६, नतोदर स्क्रेपर (१/१)

नतोदर स्क्रेपर (Concave Scraper)

ये ब्लेड-फलक अथवा कोर किसी पर भी बन सकते हैं। विशिष्टता इनके कार्यांग में होती है, जो प्रत्येक अवस्था में नतोदर होता है। नतोदर कार्यांग पुनर्गठन द्वारा बनाया जाता है।

ज्यामितिक उपकरण (Geometric Tools)

उत्तर-पाषाणकालीन उपकरणों में त्रिभुज तथा विषमकोण समलम्ब चतुर्भुज का आविर्भाव लघु-पाषाण उद्योग के विकास के एक निश्चित स्तर का निर्देश करता है। जिस स्तर से ये मिलने लगते हैं, उस तथा उसके बाद के स्तर के लघु-पाषाण उपकरण ज्यामितिक उपकरणों के स्तर में रखे जाते हैं।

त्रभुज (Triangle)

इसके नाम से स्पष्ट है, ये त्रिकोणात्मक उपकरण हैं। इनमें कम से कम दो भुजाएँ पुनर्गठन द्वारा भुथड़ी होती हैं तथा एक भुजा अनगठित होती है। विशेष अवस्थाओं में तीसरी भुजा पर भी पुनर्गठन के प्रमाण मिलते हैं।

भुजाओं की लम्बान तथा कोणों की विषमता के आधार पर त्रिभुज को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। जो इस प्रकार हैं—

समबाहु त्रिभुज (Equilateral Triangle)

इनमें तीनों भुजाएँ बराबर होती हैं तथा उनमें से कम से कम दो भुजाएँ भुथड़ी होती हैं।

चित्र सं०—८७, समबाहु त्रिभुज (१/१)
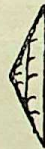
चित्र सं०—८८ समद्विबाहु त्रिभुज (१/१)

चित्र सं०—८९, विषमबाहु त्रिभुज (१/१)

समद्विबाहु त्रिभुज (Isosceles Triangle)

इसमें त्रिभुज की दो भुजाएँ बराबर होती हैं। प्रायः सबसे लम्बी भुजा अनगढ़ित और दोनों छोटी भुजाएँ भुथड़ी होती हैं।

विषमबाहु त्रिभुज (Scalene Triangle)

इस प्रकार के त्रिभुज की तीनों भुजाएँ विषम होती हैं। इनमें भी कम से कम दो भुजाएँ भुथड़ी होती हैं। कभी-कभी तीनों भुजाएँ भुथड़ी होती हैं। इनमें तथा त्रिभुजात्मक अस्त्राग्र में विभेद करना प्रायः कठिन हो जाता है; क्योंकि ये भी बहुत सकरे अस्त्राग्र के समान नोकदार होते हैं।

विषमकोण समलम्ब चतुर्भुज (Trapezium)

इस प्रकार के चतुर्भुज में दो भुजाएँ समानान्तर तथा अन्य दो असमानान्तर होती हैं। साधारणतया
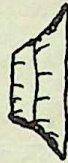
चित्र.सं०—९०, विषमकोण समलम्ब चतुर्भुज ($\frac{1}{1}$)

समानान्तर भुजाएँ अनगठित तथा असमानान्तर भुजाएँ भुथड़ी होती हैं। सुडौल समलम्ब चतुर्भुज में असमानान्तर भुजाएँ सीधी होती हैं, किन्तु अन्य में ये सीधी न होकर थोड़ी नतोदर होती हैं।

कभी-कभी ऊपर कथित प्रकार के अतिरिक्त एक और प्रकार के समलम्ब चतुर्भुज भी मिलते हैं, जिनमें दो असमानान्तर भुजाओं के अतिरिक्त समानान्तर भुजाओं में से छोटी भुजा भुथड़ी होती है। किन्तु इस प्रकार के उपकरण बहुत असामान्य होते हैं।

भुजाओं और कोणों की विषमता के आधार पर अन्य उप-विभाग किए जा सकते हैं।

चतुर्भुजाकार उपकरण (Trapezoid)

चतुर्भुजाकार उपकरण की दो भुजाएँ समानान्तर होती हैं, उनको मिलाने वाली छोटी भुजा

चित्र सं०—९१,
चतुर्भुजाकार उपकरण ($\frac{1}{1}$)

चित्र सं०—९२
अनुप्रस्थवाणाग्र ($\frac{1}{1}$)
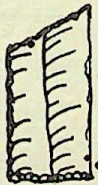
उनसे समकोण बनाते हुए तथा दूसरी छोटी भुजा तिरछी भुथड़ी होकर मिलती है। सबसे लम्बी भुजा प्रायः अनगठित होती है।

अनुप्रस्थ-वाणाग्र अथवा अस्त्राग्र (Transverse Arrow-head)

ये उपकरण भी विषमकोण समलम्ब चतुर्भुज परिवार के ही होते हैं। इनमें असमानान्तर भुजाएँ अपेक्षाकृत अधिक लम्बी तथा समानान्तर भुजाओं में एक बहुत छोटी होती है। असमानान्तर भुजाएँ भुथड़ी होती हैं। इस प्रकार के उपकरण को फ्रेंच में 'पेतीत त्रांचेत' (Petit tranchet) कहते हैं।

छिद्रक (Awl or Borer)

ये नोकदार उपकरण होते हैं। इसके नाम से स्पष्ट है कि इनका प्रयोग आधुनिक बर्मी के समान, छेद करने के लिए, किया जाता था। इनका निर्माण फलक अथवा कोर पर उभयपक्षी पुनर्गठन से किया जाता है। छिद्रक-कार्यांग अधिकांशतया मोटा (Thick) तथा गोले अनुभाग का होता है। कार्यांग के विपक्ष में, हाथ से पकड़ने के योग्य समन्तान्त भी प्रायः होता है।

इस काल में छिद्रक अधिकांशतया ब्लेड-फलकों पर बनते थे। इस प्रकार के उपकरणों में ब्लेड का एक अन्त छिद्रक के रूप में और पार्श्व ब्लेड के समान प्रयुक्त होता था।

स

चित्र सं०—९३, छिद्रक (१/१)
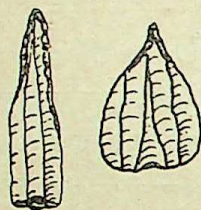
लघु-ब्यूरिन (Micro-burin)

ब्यूरिन लघु-पाषाण उद्योग के उपकरणों में एक विशिष्ट उपकरण है। डॉ० संकालिया[1] की धारणा है कि लघु-पाषाण उपकरणों में यह सबसे विवादास्पद उपकरण है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इनका निर्माण आकस्मिक रूप से होता है।
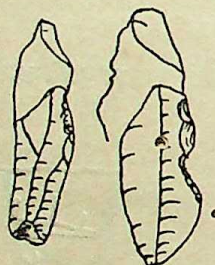
इन्हें प्रायः ब्लेड पर बने ब्यूरिन का ही एक विशिष्ट रूप माना जाता है। इसका कार्यांग ब्यूरिन के समान ही होता है। डॉ० संकालिया के अनुसार कार्यांग का एक पार्श्व लम्बवत् संघात के द्वारा बनता है, जैसा कि वास्तविक ब्यूरिन में होता है। दूसरा पार्श्व बनाने के लिए ब्लेड में एक खड्डा (Notch) बनाते हैं। किसी भी इसी प्रकार के उपकरण को ब्यूरिन मानने के लिए यह मानना आवश्यक है कि लम्बवत् संघात इच्छानुसार किया गया था।

चित्र सं०—९४, लघु-ब्यूरिन (१/१)

१—संकालिया, एच० डी०, पाश्वोंद्धरित, १९६४, पृ० ७५।

नवपाषाण युग

पाषाण युग का यह अन्तिम विभाजन है। उत्तर-पाषाणकालीन संस्कृति (Mesolithic) के समान इसका भी आविर्भाव एवं विकास नूतन युग (Holocene) में ही होता है। मानव-जीवन के विकास के इतिहास में नवपाषाण युग सबसे महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी युग है। अभी तक मानव अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रकृति की कृपा पर पूर्णरूपेण निर्भर था, किन्तु इस काल में उसने प्राकृतिक तत्वों को अपने नियन्त्रण में करने का सफल प्रयास किया। कृषि तथा पशुपालन के ज्ञान ने मानव-जीवन के जिस विकास-चक्र को प्रारम्भ किया वह आज भी गतिवान है। यदि यह कहें कि ये दोनों आविष्कार मानव-जीवन के विकास के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन आविष्कारों के फलस्वरूप मानव वन्यता के जीवन से आगे बढ़ता है। उत्तर-पाषाण काल (Mesolithic) में मनुष्य भोजन की तालाश में खानाबदोश के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करता रहता था; किन्तु कृषि-कर्म के आविष्कार के फलस्वरूप अब वह स्थिर-जीवन व्यतीत करने लगा। फलतः स्थायी आवासों (Permanent Settlements) का निर्माण हुआ, परिवार एवं कुटुम्बों का विकास तथा ग्रामों का जन्म हुआ। प्रोफेसर चाइल्ड के शब्दों में इस युग में 'आत्म-सम्पूर्ण-खाद्योत्पादक अर्थ-व्यवस्था' (A self sufficing food producing economy) का जन्म हुआ। वास्तव में यही मानव के विकास की आधारशिला थी।

यह युग केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु उपकरण निर्माण सम्बन्धी विशिष्टता के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपकरण निर्माण-प्रणाली में इस युग में आमूल परिवर्तन हो जाता है। नवीन प्रकार के उपकरणों का आविष्कार होता है। उपकरणों के प्रकार तथा निर्माण प्रणाली में यह परिवर्तन मानव को बदलती हुई स्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक थे। अतः आवश्यकतानुसार नवीन उपकरणों का आविष्कार किया गया।

इस युग की तीसरी विशिष्टता मृदभाण्डकला में विकास है। इस काल के पूर्व भी अर्थात् उत्तर-पाषाण काल में बहुत से स्थानों से हस्तनिर्मित अथवा चाक पर बने मृदभाण्ड मिले हैं, किन्तु इस युग में मृदभाण्ड कला का उद्योग के रूप में अपूर्व विकास हुआ।

मानव जीवन-प्रणाली में परिवर्तन कोई आकस्मिक घटना नहीं माननी चाहिए। सहस्रों वर्षों के क्रमशः ज्ञानार्जन के बाद ही ये परिवर्तन सम्भव हो सके थे। संसार के विभिन्न भागों में भी यह परिवर्तन हुआ। खेद का विषय है कि अभी तक यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं है कि यह आर्थिक तथा तकनीकी परिवर्तन कैसे और कहाँ पर सर्वप्रथम हुआ। इस सम्बन्ध में पश्चिमी एशिया के कुछ आवास-विशेष उल्लेखनीय हैं, जहाँ पर आखेट सम्बन्धी आर्थिक दशा से कृषि सम्बन्धी आर्थिक दशा का कुछ परिवर्तन देखा जा सकता है। नटूफियन संस्कृति में सर्वप्रथम, आखेटक लोगों को हम फसल का उपयोग करते हुए देखते हैं। केस्पियन-सागर के दक्षिण तट पर बेल्ट (Belt) तथा होतू (Hotu) कन्दराओं में क्रम से उत्तर-पाषाणकालीन तथा नवपाषाणकालीन अवशेषों के अनेक स्तर (Succession of Mesolithic and Neolithic occupation) मिले हैं, किन्तु दोनों में कोई पारस्परिक विकासात्मक क्रम नहीं मिलता।

भारत के नवपाषाण युग के आविर्भाव तथा विकास के सम्बन्ध में ज्ञान और भी सीमित है। अभी तक कोई भी ऐसा आवास प्रकाश में नहीं आया है, जिससे ज्ञात हो सके कि कैसे प्रागैतिहासिक मानव ने आखेटक अवस्था से कृषक अवस्था में पदार्पण किया। किन्तु इस दृष्टिकोण से दक्षिणी क्षेत्र के आवास अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। संगनकल्लू में, प्रथम स्तर से, ट्रैप तथा सैण्डस्टोन के विशालकाय पेटीनेटेड फलकों के साथ रूक्ष लघु-पाषाण उपकरण मिले हैं, जो मृदभाण्डों से असम्बन्धित हैं। इसके तथा नवपाषाणयुगीन स्तर के बीच के स्तर में सभ्यता के कोई भी अवशेष नहीं मिलते। अतः दोनों में कोई भी विकासात्मक क्रम मानना सम्भव नहीं है, किन्तु नवपाषाणयुगीन संस्कृति के स्तर के पहिले इस प्रकार के स्तर का मिलना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दक्षिणी क्षेत्र के टी नरसीपुर को छोड़कर प्रायः सभी नवपाषाणयुगीन संस्कृति के आवासों से लघु-पाषाण उपकरण—ब्लेड, अर्धचान्द्रिक, विषम-कोण समलम्ब चतुर्भुज तथा अस्त्राग्र आदि—भी प्राप्त हुए हैं। किन्तु यह कहना कठिन है कि उत्तर-पाषाणयुगीन लघु-पाषाण उपकरणों का नवपाषाण उद्योगों से क्या सम्बन्ध था ?

इस दृष्टिकोण से गुजरात की साबरमती घाटी में लघंनाज तथा उड़ीसा के बुरहावलंग घाटी में कुचाई के साक्ष्य विशेष उल्लेखनीय हैं। लघंनाज में प्राप्त लघु-पाषाण उपकरणों के साथ प्रायः चक्की के पत्थर (Grinding-stone) गदाशीर्ष (Mace-head) तथा मृदभाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। इनसे इस बात की कल्पना की जा सकती है कि उत्तर-पाषाण युग की आखेटात्मक आर्थिक दशा से यहाँ के लोग क्रमशः कृषि उत्पादक आर्थिक दशा (Food Producing Economy) में पदार्पण कर रहे थे। इसी प्रकार कुचाई में लघु-पाषाण संस्कृति, जो मूलरूप से आखेटात्मक आर्थिक दशा में थी, के बाद नवपाषाण-युगीन संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु फिर भी दोनों में कोई विकासात्मक क्रम नहीं मिलता है। सारांश में, अभी नवपाषाण संस्कृति के आविर्भाव की समस्या को उचित प्रकार से समझने के लिए अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

साधारणतया भारत के नवपाषाणयुगीन संस्कृति को तीन प्रमुख प्रदेशों—उत्तरी, दक्षिणी, तथा पूर्वी—में विभाजित करते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य तथा पश्चिमी भारत के देकन प्रदेश के लिए चौथा विभाजन भी किया जाता है। किन्तु इस प्रदेश की नवपाषाणयुगीन संस्कृति एक मिश्रित संस्कृति है। इसके तथा ताम्रयुगीन संस्कृति का विभाजन स्पष्ट नहीं है। इन चारों प्रदेशों के सांस्कृतिक स्तर तथा मूल उपादानों में अत्यधिक विषमता है। इसके अतिरिक्त प्राचीनता के दृष्टिकोण से भी इनमें अत्यधिक अन्तर है। इनकी विभिन्नता में एकात्मकता स्थापित करने वाले तथ्य पालिशदार, घिसकर बनाए गए उप-करण तथा कुछ अंशों में आर्थिक प्रणाली मात्र ही है।

भारत की नवपाषाणयुगीन संस्कृतियों के तिथि के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ढंग से कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है। किन्तु प्राप्त C^{14} तिथियों के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। अभी तक प्राप्त तिथियों के आधार पर कोदेकल (Kodekal) की तिथि २४६० $\pm$ १०५ ई० पू० प्राचीनतम है। यह वहाँ की नवपाषाणयुगीन संस्कृति के निम्नतर स्तर से प्राप्त हुई है। बुर्जहोम तथा उतनूर की तिथियाँ भी कोदेकल के लगभग निकट मानी जा सकती हैं। बुर्जहोम की प्राचीनतम तिथि २३७५ $\pm$ १२० ई० पू० है। उतनूर की तीन तिथियाँ २०४० $\pm$ ११५ ई० पू०, २०५० $\pm$ ११५ ई० पू० तथा २३०० $\pm$ १५५ ई० पू० हैं। कोदेकल, बुर्जहोम तथा उतनूर की तिथियों के आधार पर

भारत के नवपाषाणयुगीन संस्कृति को लगभग २६००—२७०० वर्ष ईसा पूर्व तक ले जा सकते हैं। सम्भावना यह है कि वह और अधिक प्राचीन होगी। अंतिम सीमा के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नवपाषाणयुगीन उपकरणों का प्रयोग ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ तक होता रहा है।

नवपाषाणयुगीन उपकरण

उपकरण निर्माण वैशिष्ट्य के लिए भी नवपाषाण युग बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल में उपकरण निर्माण पद्धतियों में विशेष परिवर्तन हो जाता है। उपकरणों की रूपरेखा भी आवश्यकतानुसार बदल जाती है। उत्तर-पाषाण काल तक उपकरण-निर्माण फलकीकरण की विभिन्न पद्धतियों पर ही आधारित था। उन्हें चिकना अथवा चमकदार बनाने का कोई भी प्रयास नहीं किया जाता था। नवपाषाण युग में उपकरणों को घिस कर चिकना तथा चमकदार बनाने की विशेष पद्धति का सूत्रपात होता है। परिवर्तन केवल पद्धति तक ही सीमित नहीं था, अपितु इस युग में उपकरण निर्माण के लिए नवीन प्रकार के पत्थरों का प्रयोग भी आरम्भ होता है। नवपाषाण युग के पूर्व प्रमुखतः क्वार्टज, फ्लिण्ट, चर्ट तथा जैस्पर सदृश पत्थरों का प्रयोग होता था; किन्तु नवपाषाण युग में एकदम नवीन प्रकार के पत्थरों का प्रयोग आरम्भ हो जाता है। इस काल के उपकरण प्रमुख रूप से बहुत सूक्ष्मकणों के आग्नेय पत्थरों (Igneous Rocks) के बने हुए मिलते हैं। इस प्रकार के पत्थरों में भी प्रमुखतः डाइक वेसाल्ट (Dyke basalt) डोलराइट (Dolerite) तथा एपीडाइओराइट (Epidiorite) का ही प्रयोग अधिक होता था। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य प्रकार के पत्थरों का प्रयोग होता ही नहीं था, क्योंकि बहुत से स्थानों से स्तरित चट्टानों तथा तत्सदृश पत्थरों पर निर्मित उपकरण भी मिले हैं। डॉ० संकालिया की धारणा है कि प्रस्तर के चयन में विभिन्न स्थानों पर उनकी उपलब्धि तत्कालीन मानव को विशेषतः प्रभावित किया है। प्राय: जिन स्थानों पर उपयुक्त प्रकार के पत्थर उपलब्ध नहीं थे वहां निर्मित उपकरणों का आयात भी किया जाता था। अनेक स्थानों में नवपाषाण उपकरण ऐसे पत्थरों के मिले है, जो उस क्षेत्र में नहीं मिलते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका अन्य क्षेत्रों से आयात किया गया होगा। डॉ० संकालिया के अनुसार आन्ध्र कर्नाटक की वेलरी इस प्रकार का ही एक स्थान था जहाँ से उपकरणों का आयात किया जाता था।

उपकरण निर्माण-विधि

नवपाषाणयुगीन उपकरण निर्माण-विधि बहुत जटिल है। अन्य कालों में केवल फलकीकरण विधि द्वारा उपकरण निर्माण किया जाता था। उसको चिकना अथवा चमकदार बनाने का कोई भी प्रयास नहीं करते थे। किन्तु इस युग के उपकरणों की यह आवश्यक विशेषता है। साधारणतः नवपाषाणयुगीन उपकरण निर्माण क्रिया को तीन अवस्थाओं में विभाजित कर सकते हैं। कुछ विद्वान् तीन के स्थान पर चार अवस्थाएँ भी मानते हैं। प्रथम अवस्था को फलकीकरण (Flaking), द्वितीय को समतलीकरण (Pecking), तृतीय को घर्षण (Grinding) तथा चतुर्थ को चमकाना (Polishing) कहते है।

फलकीकरण (Flaking)

उपकरण निर्माण की यह प्रथम अवस्था है। इसके अन्तर्गत जिस प्रस्तर खण्ड से उपकरण

बनाना होता है उसे प्रस्तर-हथौड़ा पद्धति से सूक्ष्म फलकीकरण द्वारा मनोवांछित रूपरेखा प्रदान करते हैं। इस अवस्था में उपकरण पूर्व-पाषाणकालीन उपकरणों के समान ही लगता है।

चित्र सं०—९५, फलकीकरण (१/२)
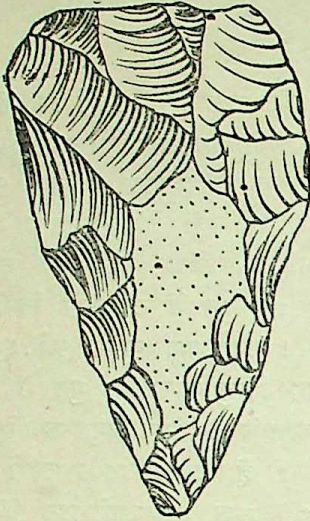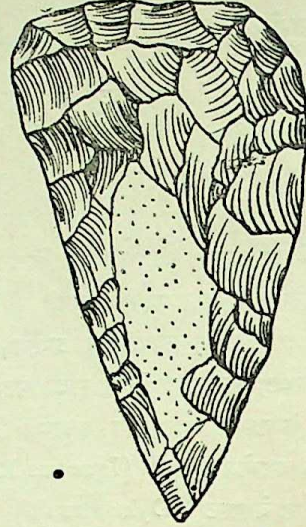
चित्र सं०—९६, समतलीकरण (१/२)

समतलीकरण (Pecking)

नवपाषाणकालीन उपकरण निर्माण-विधि की यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था उपकरण की रूपरेखा निर्धारित करने तक सीमित रहती थी। किन्तु इस अवस्था में फलकीकरण के कारण बनी हुई उभरी रेखाओं (Ridges) को नियमित संघात द्वारा समतल करने का प्रयास करते हैं। अलचिन की धारणा है कि इस कार्य के लिए बेलनाकार अथवा कोमल हथौड़े का प्रयोग करते रहे होंगे। इस अवस्था में उपकरण को अधिकतम समतल बनाने का प्रयास किया जाता था।

चित्र सं०—९७, घर्षण (१/२)
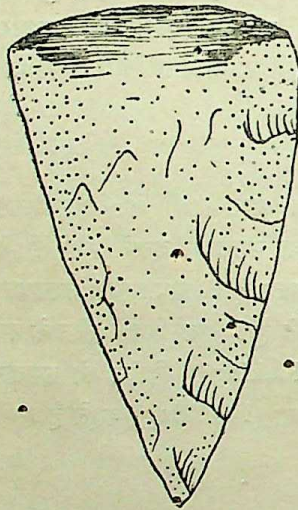
घर्षण (Grinding)

उपकरण के ऊपर की सारी उभरी रेखाओं को समतल करने के बाद घर्षण की तीसरी अवस्था आती है। नियन्त्रित संघात द्वारा उपकरण बहुत कुछ समतल हो जाता था, किन्तु फिर भी उनमें थोड़े-बहुत गड्ढे रह जाते थे। उन सब को बराबर करने के लिए घर्षण क्रिया का अवलम्बन लिया जाता था। उपकरण को किसी गहरे अथवा तश्तरीनुमा पत्थर पर बालू तथा पानी डाल कर रगड़ा जाता था। इस प्रकार से घिस कर

उपकरण को चिकना बना लिया जाता था। इस विधि से एक उपकरण को घिसने में बहुत समय लगता होगा। कहा जाता है कि न्यू जीनिया (New Guinea) के बर्बर लोगों को एक उपकरण को घिस कर तैयार करने में लगभग तीन महीने लगते थे। किन्तु किसी भी मापदण्ड के अनुसार इतना अधिक समय तर्कसंगत नहीं लगता है।
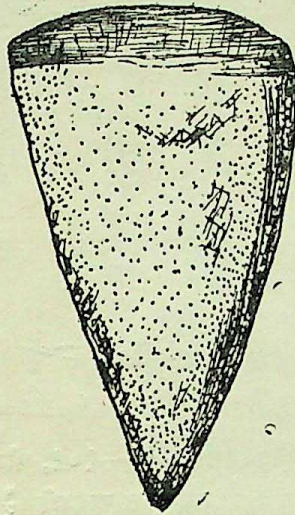
चित्र सं०—६८; चमकाना

चमकाना (Polishing)

प्रायः विद्वान् चतुर्थ अवस्था को तृतीय अवस्था से भिन्न नहीं मानते हैं। वस्तुतः इसको अलग करना आवश्यक है, बहुत से उपकरण चिकने तो अवश्य होते हैं। किन्तु उन पर चमक नहीं होती है। पूरे चमकीले उपकरण बहुत कम मिलते हैं। अधिकांशतया चमक उनके कार्यांग तक ही सीमित रहती है। चमक, निश्चय ही, घिसने के कारण उत्पन्न होती होगी, किन्तु घिसते समय किसी और वस्तु का भी प्रयोग किया जाता होगा। वह कौन सी वस्तु थी या किस विधि से चमक लाते थे कहना कठिन है।

कुल्हाड़ी (Celt)

कुल्हाड़ी नवपाषाणयुग का सब से प्रमुख उपकरण है। रूपरेखा में बहुत अंशों में यह क्लीवर के समान होता है। इसका कार्यांग खुरपेनुमा चौड़ा तथा समन्वान्त नुकीला, गोलाकार अथवा चौड़ा होता
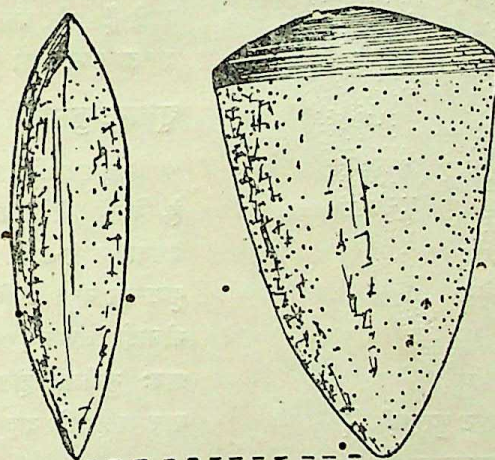
चित्र सं०—६६, नुकीला समन्तान्त कुल्हाड़ी (½)

है। जिन कुल्हाड़ियों का समन्तान्त नुकीला अथवा गोलाकार होता है वे प्रायः त्रिकोणात्मक होते हैं, किन्तु जिनका चौड़ा होता है वे आयताकार होते हैं।
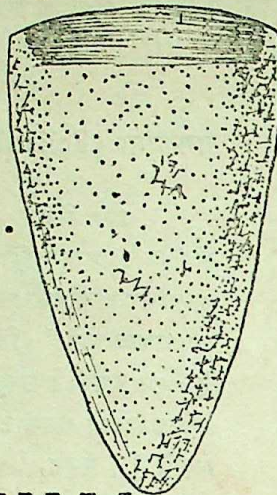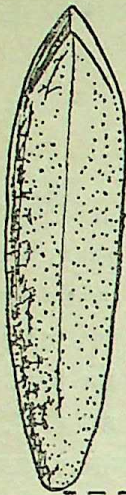
चित्र सं०—१००, गोलाकार समन्तान्त कुल्हाड़ी (१/२)
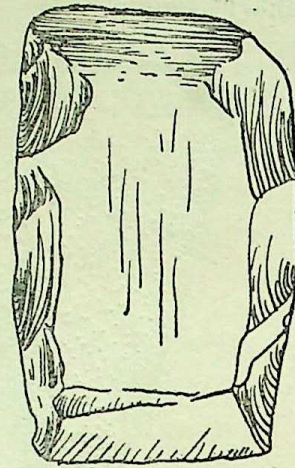
चित्र सं०—१०१, चौड़ा समन्तान्त कुल्हाड़ी (१/२)

ऊपर वर्णित आकारों के अतिरिक्त इनसे थोड़े भिन्न आकार की कुल्हाड़ियाँ भी अनेक स्थानों से मिली हैं। इनमें से अनेक प्रकार में दोनों भुजाएँ लगभग समानान्तर होती हैं और लम्बान चौड़ान से कई गुना अधिक होती है। इन्हें समानान्तर भुजाओं के लम्बे उपकरण कहा जा सकता है। इन्हीं के समान एक दूसरे प्रकार में कार्यांग चौड़ा तथा उन्नतोदर होता है तथा समन्तान्त की ओर भुजाएँ अपेक्षाकृत सकरी होती जाती हैं और अन्त उपकरण से समकोण बनाता हुआ होता है।
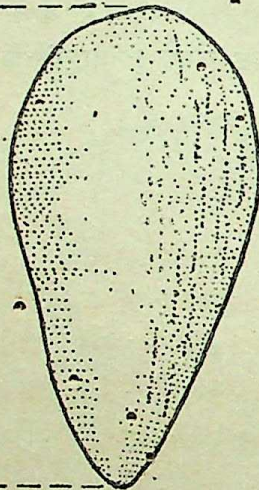
चित्र सं०—१०२, शूलास्ट कुल्हाड़ी (१/२)

शूलास्ट कुल्हाड़ी (Shoe-last Celt)

यह एक विशिष्ट प्रकार की कुल्हाड़ी है, जिसमें नीचे का तल एकदम सपाट अथवा कभी-कभी नतोदर होता है, किन्तु पृष्ठ-तल बहुत अधिक उन्नतोदर अथवा गोलाई लिए हुए होता है। समन्तान्त प्रायः नुकीला होता है। सुब्बाराव[1] की धारणा है कि यह उपकरण कृषि के लिए

१—सुब्बाराव, बी०—स्टोन एज कल्चर्स आफ् बेलरी॰ १९४८, पृ० ३४।

विशेष उपयोगी हो सकता है। ईन्यूत्र की नवपाषाणयुगीन सभ्यताओं का यह एक विशिष्ट उपकरण है। बर्किट की धारणा है कि इस उपकरण को 'L' आकृति के डण्डे में मढ़कर कुदाल के रूप में उपयोग कर सकते हैं।

चित्र सं०—१०३, खाँचेदार कुल्हाड़ी (½)

खाँचेदार कुल्हाड़ी (Grooved Celt)

खाँचेदार कुल्हाड़ी की रूपरेखा भी साधारण कुल्हाड़ी के समान होती है, अन्तर मात्र इतना है कि उपकरण के मध्य में पूरी परिधि में खाँचा बना होता है। यह खाँचा उपकरण को किसी दण्डे आदि से बाँधने के दृष्टिकोण से बनाया जाता था।

प्रायः सभी कुल्हाड़ियों का कार्यांग उन्नतोदर-सा होता है। दोनों तल के ढाल से कार्यांग बनता है। घर्षण क्रिया के कारण कार्यांग की धार बहुत तीक्ष्ण होती है। कार्यांग के ऊपर का भाग काफी पुष्ट होता है। इस विशिष्ट उपकरण का कुल्हाड़ी नामकरण उसके मढ़ने के तरीके पर आधारित है। जैसे आधुनिक कुल्हाड़ी में कार्यांग उसके हैण्डिल के समानान्तर होता है, उसी प्रकार से, अनुमानतः, इन कुल्हाड़ियों को भी मढ़ा जाता होगा। अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि इस उपकरण का प्रयोग वृक्षों के काटने के लिए किया जाता होगा। निश्चय ही वृक्षों को काटना कुल्हाड़ी का प्रमुख कार्य रहा होगा, किन्तु मेरे विचार में यह उनका एक प्रधान अस्त्र भी था। जिसका प्रयोग स्वरक्षा तथा आखेट के लिए भी किया जाता होगा। आज भी अनेक बर्बर जातियों के लोग जगलों आदि में जाते समय कुल्हाड़ी को स्वरक्षा-उपकरण के स्वरूप कंधों पर लेकर चलते हैं। नव-पाषाण युग में लोग कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने लगे थे, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि आखेट का महत्त्व उस समय भी बहुत रहा होगा। इस दृष्टिकोण से कुल्हाड़ी उनका उपकरण एवं अस्त्र दोनों का ही कार्य करता रहा होगा।

बसुली (Adze)

आकार में बसुली भी बहुत कुछ कुल्हाड़ी के ही समान होती है। किन्तु बसुली फलक पर बनी
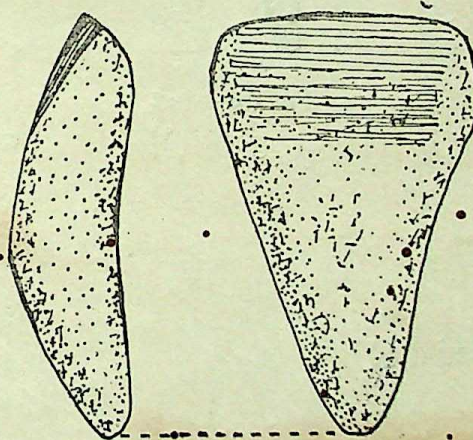
चित्र सं०—१०४, बसुली (½)

होती है। इसका एक तल सपाट तथा दूसरा तल उन्नतोदर-सा होता है। कार्यांग नीचे के सपाट तल तथा ऊपर के तल के ढलान में मिलने से बनता है।

बसुली तथा कुल्हाड़ी का प्रमुख अन्तर उनके प्रयोग में है। कुल्हाड़ी का कार्यांग, बताया जा चुका है, बेट के समानान्तर होता है, किन्तु बसुली का कार्यांग बेट से समकोण बनाते हुए होता है। बसुली मढ़ते समय उसका सपाट तल नीचे की तरफ होता है। आधुनिक बसुली में भी सपाट तल नीचे की ओर होता है तथा गोलाकार तल ऊपर की ओर। साधारणतः बसुली बढई का ही प्रमुख उपकरण होता है। इसका प्रयोग लकड़ी को छीलने तथा गढ़ने के लिए किया जाता है। नवपाषाण युग में सम्भवतः इसका वही प्रयोग था जो आज है।

छेनी (Chisel)

छेनी का आकार आधुनिक छेनी के समान ही होता है। इसका कार्यांग एक अन्त पर दोनों तलों के ढाल में मिलने से बनता है। विद्वानों ने इसे प्रमुख रूप से काष्ठकार का उपकरण बताया है। उनके अनुसार यह लकड़ी को फाड़ने के लिए प्रयुक्त होता था। साधारणतः छेनी सकरी तथा लम्बी और गोले अनुभाग की होती है, किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी मिलती है जैसे—दण्डछेनी (Bar-chisel), लघु-छेनी (Short-chisel), आयताकार छेनी (Rectanguler) आदि।

दण्डछेनी अपेक्षाकृत वहुत लम्बी होती है। लघु-छेनी उसी अनुपात में छोटी होती है। आयताकार छेनी के नाम से ही स्पष्ट है कि यह आयताकार होती है और उसका अनुभाग भी आयताकार होता है।
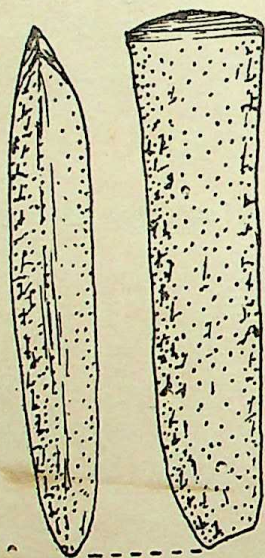
चित्र सं०—१०५, दण्डछेनी (१/२)
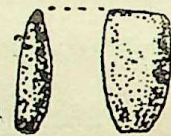
चित्र सं०—१०६, लघु-छेनी (१/४)
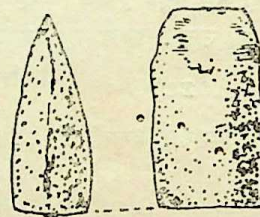
चित्र सं०—१०७, आयताकार छेनी (१/३)

गैंती (Pick)

यह छेनी के समान सकरी किन्तु उससे अपेक्षाकृत अधिक लम्बी होती है। प्रायः उनका कार्यांग नुकीला तथा समन्तान्त भुथड़ा होता है। कुछ में उनके मध्य में खाँचे के निशान मिलते हैं और कुछ में संघात के। अनुमानतः खाँचा उपकरण को मढ़ने के दृष्टिकोण से बनाया जाता था। मध्य में संघात के निशान भी सम्भवतः इसी कारण मिलते हैं। सुब्बाराव[1] की यह धारणा है कि फूट (Foot) की 'स्पीयर हेड' विधि इनके मढ़ने की सब से उपयुक्त विधि है। इस विधि के अनुसार खोखले बाँस को उनके गाँठ से तीन या साढ़े तीन इंच ऊपर काटकर उसके खोखर में गैंती का समन्तान्त डालकर उसे किसी रस्सी सदृश वस्तु से कस दिया जाता था। सुब्बाराव के अनुसार ये उपकरण खोदने अथवा छेद करने आदि के कार्य के लिए विशेष उपयोगी थे।
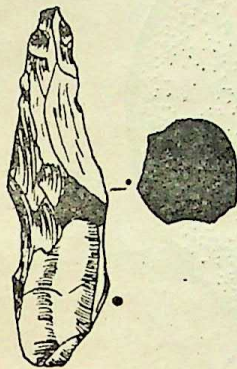
चित्र सं०—१०८, गैंती (१/३)
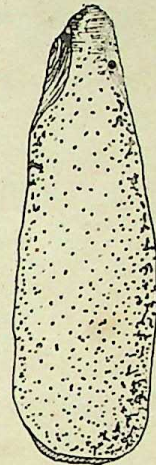
चित्र सं०—१०९, गैंती (१/३)

बाँस के अतिरिक्त हिरन के सींग में गड्ढा करके उसमें इनके समन्तान्त को जड़ा जा सकता है। इस प्रकार के मढ़े हुए उपकरण स्विट्जरलैण्ड के नवपाषाणयुगीन आवासों में मिले हैं।

गोफन पत्थर (Sling Stone)

नवपाषाणयुगीन आवासों में प्रायः बहुत से गोलाकार पत्थर मिलते हैं, उन पर किसी भी प्रकार के आघात के चिह्न नहीं मिलते हैं। विद्वानों की यह धारणा है कि ये गोफन पत्थर हैं। इनका प्रयोग आखेट आदि में करते होंगे।

चमकाने का पत्थर (Polishing Stone)

इस प्रकार के पत्थरों का एक तल चौरस तथा दूसरा उन्नतोदर होता है। आकार में ये छोटे अथवा इतने बड़े होते हैं कि इन्हें हाथ में पकड़ा जा सके। चौरसतल प्रायः घिसा हुआ चमकदार होता है। विद्वानों की ऐसी धारणा है कि इनका प्रयोग उपकरणों पर रगड़ कर उन्हें चमकाने के लिए किया जाता था।

---

१. सुब्बाराव, बी०—स्टोन एज कल्चर्स आव वेल्लरी १९४८, पृ० ३१।

वृत्ताश्म अथवा गदाशीर्ष (Ring-stone or Mace-head)

ये प्रायः गोलाकार, अपेक्षाकृत मोटे अनुभाग के सछिद्र उपकरण होते हैं। कभी-कभी ये गोलाकार न होकर चौकर भी होते हैं। छिद्र दोनों तलों से किया जाता है। प्रायः इन उपकरणों के निर्माण में भी विशेष सतर्कता बर्ती जाती थी। इनको भली-भाँति समतल कर के घिसा जाता था। कभी-कभी इन पर भी पालिश के प्रमाण मिलते हैं।

विद्वानों की यह धारणा है कि इन उपकरणों का उपयोग दो प्रकार से होता था। प्रथम, इन्हें लकड़ियों के ऊपर लगा कर खोदने के लिए भार के रूप में प्रयोग करते थे। दूसरे, इनको गदाशीर्ष के रूप में भी प्रयोग करते थे।
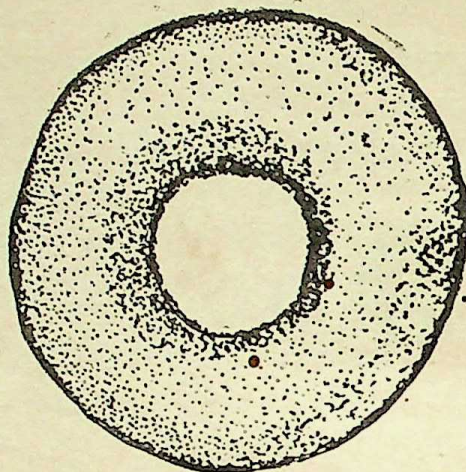
चित्र सं०—११०, वृत्ताश्म अथवा गदाशीर्ष (१/२)

हथौड़ा (Fabricators)

ये साधारणतः छोटे बेलनाकार उपकरण होते हैं, जिनके दोनों अन्त भुथड़े होते हैं। अनुमान किया जाता है कि इनका भुथड़ान्त हथौड़े के समान प्रयोग करने के कारण होता है।

चित्र सं०—१११, हथौड़ा (१/२)
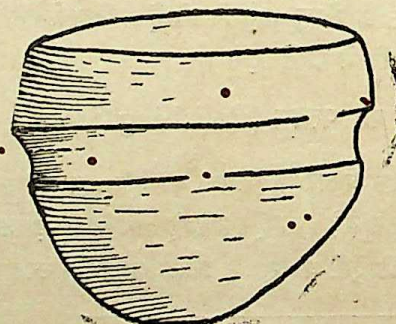
चित्र सं०—११२, खाँचेदार हथौड़ा (१/२)

ऊपर वर्णित हथौड़े के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का हथौड़ा होता है, जिसे खाँचेदार हथौड़ा (Grooved Hammer Stone) कहते हैं। यह भी साधारणतः बेलनाकार होता है, जिसके मध्य में पूरी परिधि पर एक खाँचा बना होता है। अनुमानतः खाँचा हथौड़े को किसी दण्डे आदि से बाँधने के लिए बनाया जाता था। अन्य उपकरणों के समान यह भी समतल तथा चिकना होता है और दोनों अन्त पर संघात के चिह्न मिलते हैं।

अवतल चक्की (Saddle Quern)

ये अपेक्षाकृत विशालकाय चौकोर अथवा आयताकार पत्थर के टुकड़े होते हैं, जिनके ऊपर का तल थोड़ा-बहुत नतोदर तथा घिसा हुआ लगता है। अनुमानतः इनका प्रयोग अन्न को पीसने आदि के लिए किया जाता था। निरन्तर रगड़ के कारण ही इनके ऊपर का तल घिसा हुआ तथा नतोदर लगता है।
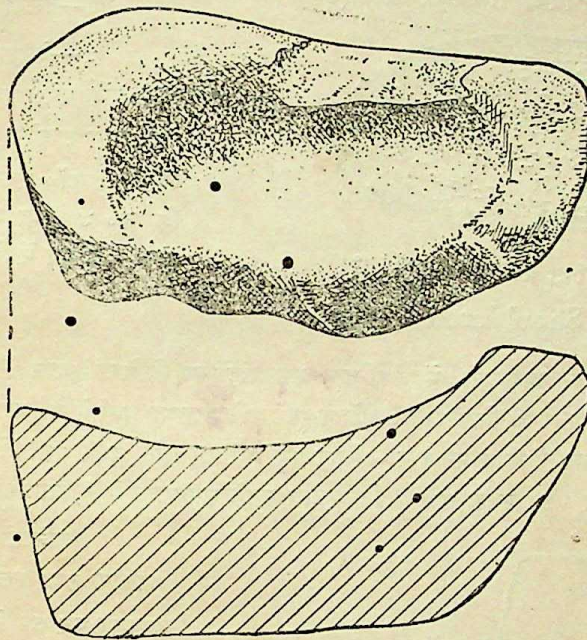
चित्र सं०—११३, दूसरे प्रकार की अवतल चक्की

डॉ० संकालिया के अनुसार ये तीन प्रकार के होते हैं—

१—जिनमें घर्षण का स्थान गोलाकार होता है।

२—जिनमें घर्षण का स्थान लम्बवत् होता है।

३—जिनमें एक ही में गोलाकार तथा लम्बवत् दोनों होता है।

लोढ़ा (Muller)

ये आधुनिक लोढ़े के ही समान होते हैं। इनका वही उपयोग था, जो आधुनिक लोढ़ों का होता

है, अर्थात् पीसने के लिए। आकार के आधार पर डॉ० संकालिया ने इन्हें पाँच भागों में विभाजित किया है—

चित्र सं०—११४, गोलाकार लोढ़ा (१/३)

चित्र सं०—११५, बेलनाकार लोढ़ा (१/३)

१—गोलाकार गेन्द के समान खुरदुरे सतह के लोढ़े।

२—गोलाकार जिनमें दो तल चौरस होते हैं।

३—चौरस उन्नतोदर-तलीय लोढ़े। इनमें एकतल एकदम चौरस अथवा सपाट होता है और ऊपर का भाग उन्नतोदर होता है।

४—बेलनाकार।

५—बेलनाकार लोढ़ा जिनके दोनों अन्त अपेक्षाकृत मोटे होते हैं तथा अन्य भाग उपयोग के कारण पतले हो जाते हैं। डॉ० संकालिया का विचार है कि नं० ४ तथा ५ प्रकार के लोढ़े प्रायः लौह युग में मिलते हैं।
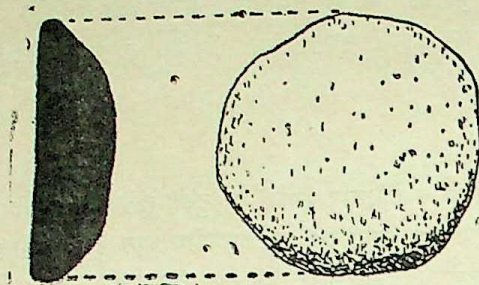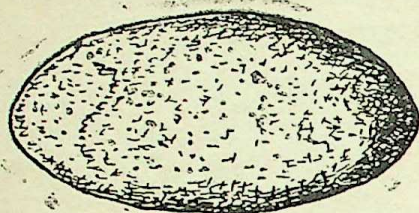
स्कन्धित उपकरण (Shouldered Tools)

नवपाषाणयुगीन उपकरणों में स्कन्धित उपकरणों का विशिष्ट स्थान है। भारत में इनका विस्तार प्रायः पूर्वी भाग में ही मिलता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा बर्मा में ये बहुतायत से मिलते हैं। अनुमान है कि इनका वास्तविक जन्म-स्थान दक्षिण-पूर्व एशिया ही था। वहाँ से इनका विकास एवं विस्तार भारत में हुआ। इन उपकरणों की विशिष्टता उनके समन्तान्त में है, जो स्कन्धित होता है।

चित्र सं०—११६, चौड़े तथा सुडौल (१/२)

स्कन्धित उपकरणों को उनके आकार तथा स्कन्ध की सुडौलता के आधार पर कम से कम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

१—चौड़े तथा सुडौल (Broad and Regular)

इस प्रकार के स्कन्धित उपकरण चौड़े आकार तथा कार्यांग के होते हैं। इनमें स्कन्ध उपकरण से समकोण बनाता है। ऐसे उपकरणों में चौड़ान प्रायः लम्बान से अधिक होती है।

२–लम्बे तथा सुडौल (Long and Regular)

इस प्रकार के उपकरण प्रथम प्रकार के स्कन्धित उपकरणों के ही समान होते हैं, किन्तु अन्तर उनके आकार में होता है। इनमें उपकरण की चौड़ाई लम्बाई से कम होती है। देखने में उपकरण लम्बा लगता है।
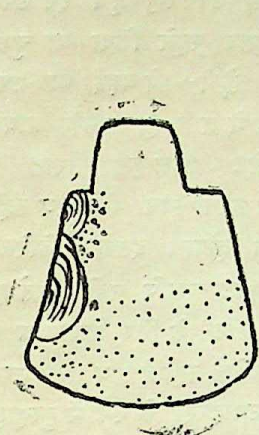
चित्र सं०—११७, लम्बे तथा सुडौल (१/३)
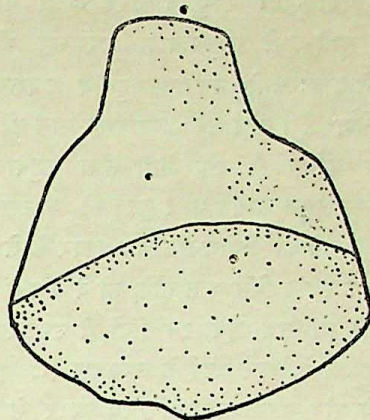
चित्र सं०—११८, चौड़े तथा बेडौल (१/२)

३–चौड़े तथा बेडौल (Broad and Irregular)

इस प्रकार के स्कन्धित उपकरण प्रथम प्रकार के समान चौड़े अवश्य होते हैं, किन्तु उनके स्कन्ध सुडौल नहीं होते। वे उपकरण से समकोण न बनाकर विषमकोण बनाते हैं। देखने में पूरा उपकरण बेडौल सा लगता है।

४–लम्बे तथा बेडौल (Long and Irregular)

ये दूसरे प्रकार के उपकरणों के समान लम्बे तथा तीसरे प्रकार के उपकरणों के समान बेडौल स्कन्ध वाले होते हैं।
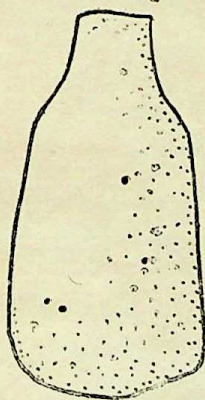
चित्र सं०—११९, लम्बे तथा बेडौल (१/२)
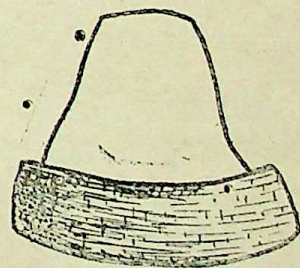
चित्र सं०—१२०, चन्द्राकार उपकरण (१/२)

इन चार प्रकार के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का स्कन्धित उपकरण प्रायः मिलता है। इसे चन्द्राकार सुडौल स्कन्धित उपकरण कहा जा सकता है। इनमें उपकरण चन्द्राकार होता है, स्कन्ध सुडौल होते हैं तथा स्कन्ध के बाद का भाग अपेक्षाकृत लम्बा होता है। आकार में ये परशु के समान लगते हैं। अनुमानतः इनका उपयोग भी परशु के समान ही होता होगा।

साधारणतः उपर्युक्त उपकरण ही नवपाषाण युग के प्रमुख उपकरण हैं। इन उपकरणों के साथ कभी-कभी लघु-पाषाण उपकरण भी मिलते हैं, जिनका विचार पहले किया जा चुका है। विद्वानों ने प्रायः सभी नवपाषाणयुगीन उपकरणों—कुल्हाड़ी, बसुली, छेनी—को बढ़ई का उपकरण घोषित किया हैं। जहाँ तक नवपाषाण काल की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में ज्ञात है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि खेती तथा पशुपालन मुख्यतः तथा आखेट अपेक्षाकृत गौणतः इनकी जीविका का प्रमुख साधन था। वृक्षों को काटना या जंगलों को साफ करना स्वयं में उद्देश्य नहीं थे। वृक्षों को काटने का प्रयोजन उचित प्रकार के खेतों को बनाना ही रहा होगा। इसके अतिरिक्त यदि उनको साफ स्थान मिल जाते होंगे, तो वे जंगलों या वृक्षों को काटने का कष्ट कदापि नहीं करते होंगे। कुल्हाड़ी, बसुली तथा छेनी इन तीनों ही उपकरणों का उपयोग लकड़ी काटने के लिए किया जा सकता है। किन्तु इनको केवल बढ़ई के उपकरण (Carpenters tool) कहना उचित नहीं है। ये सभी उपकरण बहुधंधी थे और उनका प्रयोग विविध प्रकार से किया जाता होगा। उदाहरण के रूप में कुल्हाड़ी का प्रयोग निश्चय ही स्वरक्षा के लिए किया जाता होगा। इसके अतिरिक्त इस काल में आखेट का महत्त्व कम नहीं रहा होगा। ये लोग जानवरों को फँसाने आदि की कला से परिचित थे। फँसे हुए जानवरों को मारने, उनको काटने आदि के लिए भी ये उपकरणों का प्रयोग करते रहे होंगे। छेनी का प्रयोग लकड़ी काटने के लिए उतना उपयोगी नहीं प्रतीत होता है, जितना कि कृषि-कर्म में। जिन लकड़ियों में वृत्ताश्म अथवा गदाशीर्ष का प्रयोग किया जाता था उनमें फल के रूप में इनका प्रयोग होता होगा। आधुनिक काल का फल भी दण्ड छेनी से बहुत भिन्न नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कुछ उपकरणों का प्रयोग खोदने के लिए भी अवश्य होता होगा। लम्बी कुल्हाड़ी को यदि कुदाल के समान डण्डे में मढ़ा जाए, तो उनसे खोदने का कार्य भी किया जा सकता है। स्कन्धित उपकरण का प्रयोग फरसे के रूप में भी होता रहा होगा। सारांश में ये बहुधंधी उपकरण थे और उनका प्रयोग विविध प्रकार से किया जाता था।

तिथि-क्रम

काल-क्रम का बोध इतिहास की आधारशिला है। इसीलिए प्रागितिहास का अध्ययन बिना काल-क्रम के ज्ञान के अधूरा ही नहीं, अपितु निरर्थक भी है। चूंकि प्रागितिहास मानव के उद्भव एवं प्राचीनतम इतिहास से सम्बन्धित है, अतः इसका काल-विस्तार (Time-span) भी अपेक्षाकृत बहुत विस्तृत है। साथ ही साथ चूंकि प्रागितिहास निरक्षर समाजों का इतिहास है अतएव प्रागैतिहासिक मानव के विकास अथवा काल-विस्तार के विभिन्न स्थितियों तथा तिथि का बोध उनके अवशेषों के विश्लेषण से तथा जिस स्तर से वे उपलब्ध हुई हैं, उनकी स्थिति के स्पष्ट बोध से ही किया जा सकता है। काल-विस्तार के अधिक विस्तृत होने के कारण सभी घटनाओं को वर्षों, महीनों, घण्टों आदि में नहीं उतारा जा सकता है। ऐसी स्थिति में बहुत सी घटनाओं की केवल सापेक्ष-तिथि ही दी जा सकती है। यद्यपि सापेक्ष तिथि निश्चित तिथि के समान महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती है, किन्तु निश्चित-तिथि के अभाव में तिथि-क्रम के ज्ञान के ये ही एकमात्र साधन हैं।

किसी भी वस्तु की तिथि का निर्धारण प्रायः दो प्रकार से—प्रागैतिहासिक वस्तुओं (पुरातात्त्विक सामग्री) के आन्तरिक तथ्यों के विश्लेषण से तथा जिन स्तरों (Strata) से जिस सन्दर्भ में सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अध्ययन से—करते हैं। पुरातात्त्विक सामग्री के काल-क्रम का अध्ययन विविध विषयों—विशेषतः भूतैथिकी (Geochronology), भूतत्त्व विज्ञान (Geology) जलवायु-विज्ञान (Climatology), पुराप्राणि विज्ञान (Palaeo-zoology), जीवाश्म विज्ञान (Palaeontology), रसायन विज्ञान (Chemistry), भौतिक विज्ञान (Physics) आदि—की सहायता से किया जाता है।

प्रायः सभी तिथि निर्धारण प्रणालियों को दो प्रमुख भागों में विभाजित कर सकते हैं—

सापेक्ष-तिथि विधि (Method of Relative Dating)
निर्पेक्ष-तिथि विधि (Method of Absolute Dating)

सापेक्ष-तिथि विधि

निश्चित अथवा निर्पेक्ष तिथि के अभाव में किसी वस्तु एवं स्तर की तिथि का निर्धारण सापेक्ष-तिथि निर्धारण प्रविधि से करते हैं। जब किसी वस्तु की तिथि किसी दूसरी वस्तु के प्रसंग से अथवा किसी क्रम में निर्धारित की जाती है, जैसे अमुक वस्तु अमुक से अधिक प्राचीन है, तब उसे सापेक्ष तिथि के अन्तर्गत रखते हैं।

सापेक्ष तिथि निर्धारण करने की अनेक विधियाँ हैं। उनमें से प्रमुख विधियाँ अधोलिखित हैं।

स्तरीकरण-सिद्धान्त (Principle of Stratigraphy)

सापेक्ष-तिथि निर्धारण प्रविधियों में पुरातात्त्विक दृष्टिकोण से स्तरीकरण का सिद्धान्त सबसे प्रमुख है। पुरातत्त्व तथा भूतत्त्व विज्ञान का अध्ययन स्तरीकरण के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि पृथ्वी के धरातल के नीचे विशेष उथल-पुथल नहीं हुई है, तो निम्नतम स्तर पर प्राप्त होने वाली वस्तु प्राचीनतम तथा ऊपर की वस्तु बाद की होगी। सैद्धान्तिक रूप से यह जितना सरल प्रतीत होता है प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से वह उतना नहीं है। इसके वास्तविक प्रयोग में अनेक कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ उपस्थित होती हैं। जिनका समाधान आवश्यक है। प्राकृतिक जमाव सभी स्थानों तथा परिस्थितियों में एक समान नहीं होता है। उदाहरण के रूप में, कन्दरा में हुआ जमाव अन्य स्थानों की अपेक्षा कम होगा। इसी प्रकार से ढाल तथा समतल स्थान में हुए तथा गड्ढे और पहाड़ों में हुए जमावों में भी अन्तर होगा। ऐसी स्थिति में सीमित क्षेत्र में किया हुआ प्रेक्षण (Exploration) तथा उत्खनन (Excavation) भ्रामक हो सकता है। कभी-कभी विस्तृत भू-गर्भीय उथल-पुथल भी अनेक समस्याओं को उत्पन्न कर देते हैं। वे स्तरों के क्रम को उलट-पलट देते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति के कारण भूल न हो इसलिए बहुत सतर्कता तथा सूक्ष्म प्रेक्षण (Minute Observation) आवश्यक होता है। जिन स्थानों पर उत्खनन नहीं करते हैं और स्तरीकरण केवल प्रेक्षण पर ही आधारित होता है—जैसे नदियों तथा हिमायित प्रदेशों का अध्ययन—वहाँ कोई भी निष्कर्ष उस समय तक नहीं निकाला जा सकता है जब तक कि विस्तृत क्षेत्र में बहुत सूक्ष्म प्रेक्षण न कर लिया जावे। नदियों की घाटियों में सभी कालों के जमाव प्रायः एक ही स्थान पर नहीं मिलते हैं। स्थानीय विशेषताओं के अनुरूप कुछ स्थानों पर कुछ कालों के तथा अन्य स्थानों पर अन्य कालों के जमाव मिलते हैं। इसी प्रकार उत्खनित खनतियों (Excavated Trenches) में भी सभी पर्तें (Layers) अथवा सभी कालों के जमाव एक ही स्थान पर निरूपित नहीं होते हैं। ऐसी अवस्था में प्रागितिहासकार अथवा पुरातत्त्ववेत्ता को विभिन्न प्रकार के जमावों का क्या क्रम था उसे निर्धारित करना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु उनमें प्राप्त वस्तुओं के स्थान का स्तर से सम्बन्ध भी स्थापित करना पड़ता है। इन सभी के समुचित ज्ञान के लिए संग्रथित सेक्शन (Composite Section) बनाने की आवश्यकता होती है। कभी-कभी विशेष परिस्थितियों के कारण स्थान-स्थान पर जमाव बहुत भ्रामक प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थानों पर विशेष प्रेक्षण की आवश्यकता होती है। उत्खनन में भी इसी प्रकार की कठिनाइयाँ चूहों के बिलों, पेड़ की जड़ों तथा प्राकृतिक रूप से स्तरों में धसने के कारण उपस्थित हो जाती हैं। उपर्युक्त तथा तत्सदृश कारणों से बाद की वस्तुएँ नीचे के स्तरों में आकर भ्रम उत्पन्न करने लगती हैं, अतः उसको समझने के लिए विशेष सतर्कता वाछंनीय है।

स्तरीकरण द्वारा विभिन्न सभ्यताओं के क्रम तथा किसी सभ्यता अथवा उद्योग के क्रमिक विकास का ज्ञान होता है। इसका महत्त्व उस समय बढ़ जाता है जब किसी स्तर में ऐसी वस्तु भी प्राप्त हो जाती है जिसकी तिथि निश्चित हो। जब स्तरों का अवसादन-दर (Rate of Sedimentation) भी ज्ञात होता है तब नीचे तथा ऊपर के स्तरों की तिथि निर्धारित करना सुलभ हो जाता है। इस विधि के द्वारा तिथि निर्धारित करने के लिए आवश्यक है कि कम से कम किसी एक स्तर की तिथि ज्ञात हो।

प्ररूप विद्या प्रणाली (Typological Method)

सापेक्ष तिथि निर्धारण की यह प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित है कि समान तकनीकी अवस्था तथा स्वरूप की वस्तुएँ लगभग एक ही समय की होनी चाहिए। वस्तुओं का तकनीकी-विकास (Evolution) तथा अवक्रमण (Devolution) सदैव एक निश्चित क्रम में ही होता है। प्रागैतिहासिक मानव के विकास के अध्ययन में प्ररूप विद्या का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उन सभी उपकरणों का अध्ययन, जो केवल सतह (Surface) से प्राप्त होते हैं, प्ररूप विद्या के सिद्धान्त पर ही आधारित है। कम से कम भारत में जहाँ निम्न-पूर्वपाषाण काल के उपकरण मिश्रित मिलते हैं वहाँ उनके विकास का क्रम केवल प्ररूप विद्या पर ही निर्भर करता है। मृद्भाण्डों (Pottery) का अध्ययन भी प्ररूप विद्या के सिद्धान्त पर ही आधारित है। मृद्भाण्डों के आधार पर ही विभिन्न उत्खनित सभ्यताओं का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अन्य वस्तुओं के अभाव में मृद्भाण्ड ही सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

प्ररूप विद्या प्रणाली का अनुसरण बहुत दूर तक नहीं किया जा सकता है। इसकी भी सीमा है, जिसका अतिक्रमण सम्भव नहीं है। प्रथम, इसके द्वारा काल विशेष के आन्तरिक विकास का ही बोध होता है। इसके अतिरिक्त प्रायः यह निश्चित करने में भी कठिनाई होती है कि वह विकास (Evolution) का अथवा अवक्रमण का द्योतक है। बहुत-सी वस्तुओं का विकास तथा अवक्रमण चक्रिक (Cyclic) रूप में हुआ है। ऐसी अवस्था में विशेष सतर्कता की आवश्यकता होती है। इस कठिनाई के समाधान के लिए स्तरीकरण प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। स्तरीकरण की पुष्टि के बाद इस प्रणाली का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है।

सह-सम्बन्धीकरण प्रणाली (Method of Association)

सह-सम्बन्धीकरण प्रणाली के सिद्धान्त के अनुसार सम्बन्धित वस्तुओं की तिथि प्रायः एक ही होती है। दूसरे शब्दों में सदैव साथ मिलने वाली वस्तुओं में से जब कुछ दूसरी वस्तुओं के साथ मिलती हैं तब उनकी भी तिथि प्रायः वही मानी जाती है। इस प्रणाली का महत्त्व उस समय और भी अधिक बढ़ जाता है जब इनका पुष्टीकरण प्ररूप विद्या से भी होता है। जब साथ मिलने वाली वस्तु की तिथि ज्ञात होती है तब इसका महत्त्व अधिक हो जाता है। ऐतिहासिक काल की बहुत-सी तिथियों तथा सभ्यताओं का क्रम एवं स्तर मृद्भाण्डों के साक्ष्य पर ही निश्चित किया गया है।

प्ररूप विद्या तथा सह-सम्बन्धीकरण प्रणाली को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए, क्योंकि केवल इन्हीं पर किसी काल-क्रम का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इस प्रणाली से प्राप्त साक्ष्यों का पुष्टीकरण अन्य प्रणालियों से करना आवश्यक होता है।

सापेक्ष तिथि निर्धारण प्रणालियों में उपर्युक्त पद्धतियों को छोड़कर, कुछ **वैज्ञानिक पद्धतियाँ** भी हैं, जो सापेक्ष-तिथि निर्धारण के लिए विशेष उपयोगी होती हैं। इस प्रकार की वैज्ञानिक पद्धतियों में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं।

फ्लोरीन परीक्षण-पद्धति (Fluorine Test)

इस प्रणाली का अन्वेषण १८९३ ई० में ए० कारनोट ने किया था। कालान्तर में के० पी०

श्रोकले ने इस पद्धति को परिष्कृत किया। यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि समयानुसार हड्डियों में फ्लोरीन की मात्रा बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में हड्डी जितनी ही अधिक प्राचीन होगी उसमें फ्लोरीन की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। जब अन्य वस्तुओं के साथ विभिन्न स्तरों में हड्डियाँ भी मिलती हैं तब इस प्रणाली का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। हड्डियों के फ्लोरीन की मात्रा को नाप कर उनके साक्ष्य पर स्तरों के वास्तविक क्रम को निर्धारण करने में सहायता मिलती है। इस पद्धति के अनुसार ऊपर के स्तरों में प्राप्त होने वाली हड्डियों में फ्लोरीन की मात्रा कम तथा नीचे के स्तरों की हड्डियों में अधिक होगी। कब्रों अथवा कब्रिस्तानों के उत्खनन में तिथि निर्धारण अथवा कंकालों के क्रम को निश्चित करने के लिए यह पद्धति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस पद्धति की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसका क्षेत्र बहुत सीमित है। क्योंकि इसके द्वारा केवल हड्डियों की ही सापेक्ष तिथि निर्धारित की जा सकती है। जिन स्तरों में हड्डियाँ नहीं मिलती हैं उनकी तिथि का निर्धारण इस पद्धति से करना सम्भव नहीं है।

समुद्रीय जल-तल परिवर्तन तिथि-क्रम प्रणाली (Changes of Sea-level)

विश्वव्यापी समुद्रीय-जल-तल परिवर्तनों से भी मानव आवासों की तिथि की कल्पना की जाती है। प्रातिनूतनकाल, यह सर्वविदित है, जलवायु सम्बन्धी अस्थिरता का युग था। संसार के कुछ भागों में हिमावर्तन तथा हिमप्रत्यावर्तन और अन्य भागों में वृष्टयावर्तन तथा प्रत्यावर्तन काल हुए थे। इन परिवर्तनों ने निश्चय ही वातावरण की आर्द्रता (जलाशयों—समुद्र, झील, नदी, नाले आदि) को प्रभावित किया। हिमप्रत्यावर्तन काल (Inter-glacial) मे बर्फ के पिघलने से जलाशयों, झीलों एवं सागरों के जल में वृद्धि हो जाती थी, जो उनके जल-तल के सन्तुलन को उद्वेलित कर देती थी। इन विश्वव्यापी परिवर्तनों ने उन भागों को भी विशेषतः प्रभावित किया, जो कि हिमायित प्रदेशों से दूर थे, क्योंकि समुद्रों के जल-तल परिवर्तनो ने उन सभी नदियों को भी प्रभावित किया जिनका विसर्जन समुद्रों में अथवा झीलों में होता था। इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में जलवायु सम्बन्धी अस्थिरता ने प्रागैतिहासिक मानव को भी विशेष रूप से प्रभावित किया। विस्तृत अथवा संकुचित होती हुई बर्फ की चादरों तथा फैलती और सिमटती हुई नदियों के साथ उसके आवास भी स्थान परिवर्तन करते थे। विश्वव्यापी समुद्रीय जल-तल परिवर्तनों ने सभी स्थानों पर अपने चिह्न छोड़े हैं, जिनके सूक्ष्म अध्ययन से प्रत्येक जल-तल परिवर्तन को चिह्नित किया जा सकता है। हिमायन काल में बहुत से क्षेत्रों में हिम के भार से पृथ्वी के धरातल के सन्तुलन में भी परिवर्तन हुआ। बहुत से भागों में अतिभार के कारण पृथ्वी का धरातल नीचा हो गया तथा अन्य क्षेत्र में बहुत-सा भाग, जो समुद्र के नीचे था ऊपर निकल आया। बहुत से स्थानों पर भू-गर्भीय उथल-पुथल के कारण समुद्र तट-रेखा (Shore Line) बहुत स्पष्ठ नहीं है, किन्तु ऐसे स्थानों पर भी सूक्ष्म प्रेक्षण द्वारा उन्हें चिह्नित किया जा सकता है।

समद्रीय जल–तल परिवर्तन के अध्ययन का महत्त्व उस समय सबसे अधिक बढ़ जाता है जब उनका सम्बन्धीकरण मानव आवासों (Human-settlements) से स्थापित हो जाता है। पुलिनों (Strand-lines) तथा मानव आवासों के सम्बन्धीकरण में उनकी स्थिति तथा स्तरीकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पुलिनों का विभिन्न हिमायन कालों तथा अन्तर्हिम कालों से सम्बन्ध स्थापित करके

मानवासों तथा उपकरणों की तिथि निर्धारित की जा सकती है। इसी प्रकार नदियों की वेदिकाओं को भी विभिन्न हिमकालों अथवा अन्तर्हिम कालों से सम्बन्धित कर के उनकी सापेक्ष तिथि निर्धारित की जा सकती है। भारत में अभी तक इसका अध्ययन प्रारम्भिक अवस्था में ही है। किन्तु ज्वाएनर ने टेरी (Teri) के लघु-पाषाणोपकरणों की तिथि समुद्रीय-जल-तल परिवर्तन विधि से ही की थी।

पराग-विश्लेषण प्रणाली (Pollen-analysis)

जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों से सम्बन्धित पद्धतियों में पराग-विश्लेषण पद्धति सबसे अधिक उल्लेखनीय है। पराग शीघ्र नष्ट नहीं होते हैं तथा मिट्टी में मिल कर वे असीमकाल तक इस प्रकार से सुरक्षित रहते हैं कि उनका विश्लेषण करके उन्हें सरलता से पहचाना जा सकता है। किसी भी जमाव के विभिन्न स्तरों की मिट्टी में प्राप्त पराग का विश्लेषण कर के यह जाना जा सकता है कि उस जमाव के दौरान में कैसे-कैसे परिवर्तन जलवायु में हुए थे। पराग-विश्लेषण पद्धति का महत्त्व उस समय बहुत बढ़ जाता है जब इनका सम्बन्धीकरण अनुवर्षस्तरी (Varve), रेडियो कार्बन (Radio Carbon) कालानुक्रमों (Chronology) से स्थापित हो जाता है। पुरातात्त्विक सामग्री जब ऐसे पराग के साथ मिलती है जिसकी तिथि का विस्तार ज्ञात है तब उसके आधार पर उसकी तिथि निर्धारित करते हैं।

जीवाश्म-साक्ष्य (Fossil-evidence)

सापेक्ष तिथि निर्धारण में प्रायः जीवाश्म-साक्ष्य भी विशेष सहायक होते हैं। भौतात्त्विक कल्पों का विभाजन नवीन प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के साक्ष्य पर ही आधारित है। प्रगैतिहासिक काल में मानव-जीवन प्रागैतिहासिक जीवों के ऊपर ही विशेषतः आधारित था। वे ही उसकी जीविका के साधन थे। प्राय: प्रागैतिहासिक मानव के आवासों में अन्य वस्तुओं के साथ जानवरों की हड्डियाँ भी मिलती हैं, जिनका अध्ययन कर के उन्हें पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रायः भौतात्त्विक स्तरों में प्रागैतिहासिक प्रस्तर उपकरणों के साथ पशुओं के जीवाश्म भी मिलते हैं। उनके आधार पर स्तरों की तथा उपकरणों के जमाव की तिथि का अनुमान किया जा सकता है। जीवाश्म-साक्ष्य का महत्त्व उस समय बहुत बढ़ जाता है जब ऐसे जीवाश्म उपलब्ध होते हैं, जिनके क्रमिक विकास का इतिहास स्पष्टतः ज्ञात होता है। ऐसी दशा में वे काल-मापक्रम (Time-scale) का काम करते हैं। जब नवीन प्रकार के जीवाश्म किसी स्तर से मिलते हैं तब उस स्तर की तिथि-निर्धारण और सुलभ हो जाती है। इस विधि से तिथि निर्धारण साधारणतया केवल भौतात्त्विक कल्पों में ही किया जा सकती है। चूंकि बहुत से जीवों के विकास का काल-विस्तार बहुत विस्तृत है, इसलिए यह विधि उस समय उपयोगी नहीं होती है जब जीवों के विकास का क्रमिक इतिहास ज्ञात नहीं होता है।

निर्पेक्ष तिथि

जब तिथि सौर्य-वर्षों, महीनों दिनों आदि में निर्धारित करते हैं तब उस प्रकार की तिथि को निर्पेक्ष तिथि कहते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रागितिहास में किसी भी घटना की एकदम निश्चित तिथि नहीं निर्धारित की जा सकती है। प्रागितिहास के सन्दर्भ में जिन्हें हम निर्पेक्ष तिथि कहते हैं उनको भी कभी-कभी कई सौ वर्षों के कोष्टकों (Brackets) में देते हैं। प्रागितिहास के संदर्भ में सौ-दो-सौ वर्षों का विशेष महत्त्व नहीं है वे कुछ पलों के समान ही हैं। वे लगभग

उसी तरह हैं जैसे कुतुबमीनार की ऊचाई की गणना करते समय दो-एक सेण्टीमीटर का कम अथवा अधिक होना।

कुछ काल पूर्व तक निर्पेक्ष-तिथि को निर्धारित करने की विधियों के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं था। किन्तु हाल में विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति ने इसे सुलभ कर दिया है। निर्पेक्ष तिथि निर्धारण करने की विभिन्न विधियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

१. खगोलीय (Astronomical)
२. भू-वैज्ञानिक (Geological)
३. जैविक (Biological)
४. भौतिक (Physical)

खगोलीय (Astronomical)

खगोलीय तिथियाँ सौर्य-विकिरण (Solar Radiation) के घटाव-बढाव (Fluctuation) की गणना पर आधारित हैं। अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि प्रातिनूतन काल में जलवायु सम्बन्धी अस्थिरता का प्रमुख कारण सौर्य-विकिरण की अस्थिरता ही थी।

जीवाश्मों के साक्ष्य काल-क्रम निर्धारण के साथ ही तत्कालीन जलवायु तथा स्थान-विशेष के भौगोलिक अवस्था अर्थात् परिस्थितिकी (Ecology) पर भी विशेष प्रकाश डालते हैं।

चूंकि हिमावर्तन तथा हिमप्रत्यावर्तन कालों का नियन्त्रण सौर्य-विकिरण द्वारा हुआ था, अतः सौर्य-विकिरण के प्रत्येक वक्र का सम्बन्धीकरण हिम के विस्तार तथा संकुचन से किया जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान् मिलेंकोविक (Milankovic) ने प्रातिनूतन काल में सौर्य-विकिरण के प्रत्येक वक्र (Curve) की तिथि सौर्य-वर्षों में देने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। इसके अनुसार विभिन्न हिमायनों से सम्बन्धित जमावों की तिथि मिलेंकोविक की विधि से निर्धारित की जा सकती है।

मिलेंकोविक की इस विधि को अभी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि ये तिथियाँ केवल परिकल्पना (Hypothesis) पर ही आधारित है। प्रायः खगोलीय तिथियाँ C^{14} तिथियों के अनुपात में अधिक प्राचीन आती हैं।

भू-वैज्ञानिक

अवसादन-दर पर आधारित तिथि क्रम प्रणाली (Dating Based on Rate of Sedimentation)

विद्वानों ने अवसादन-दर पर निर्पेक्ष तिथियाँ निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस विधि के अनुसार ज्ञात तिथियों के बीच हुए अवसादन-दर को पहले निश्चित कर लेते हैं। उसके बाद उसी के आधार-पर पूरे जमाव की तिथि का परिकलन (Calculation) करते हैं। तिथि-निर्धारण की यह विधि केवल परिकल्पना पर आधारित होती है। अतः यह अधिक विश्वसनीय नहीं है। अवसादन-दर स्थान-स्थान पर समय-समय पर बदलता रहता है। ऐसी स्थिति में इस पर किसी भी तिथि को असन्दिग्ध रूप से आधारित नहीं किया जा सकता है।

अनुवर्षस्तरी-विश्लेषण प्रणाली (Varve Analysis Method)

अनुवर्षस्तरी अथवा वार्व (Varve) इस प्रकार के अवसादिन को कहते हैं, जिनमें जमाव युग्मित रूप से—दो प्रकार के जमाव जैसे एक पर्त बालू (Sand) तथा दूसरी चिकनी मिट्टी (Clay) की या एक चूना पत्थर (Lime stone) तथा दूसरी चर्ट के चूर्ण की क्रमशः—प्रतिवर्ष होते हैं। चूंकि ये एकदम क्रमवद्ध होते हैं, अतः अनुमान किया जा सकता है कि इनका जमाव नियमित प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण होता है। इसीलिए क्रमिक रूप से भिन्न प्रकार के जमावों की पर्तें एकान्तरित रूप से मिलती हैं। प्रतिवर्ष नियमित रूप से होने वाले युग्मित जमावों की गणना कर के यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्पूर्ण जमाव में कितने वर्ष लगे होंगे।

इस प्रणाली के प्रवर्तक बेरन जेरार्ड द गीर (Baron Gerard De Geer) थे। इन्होंने सर्व-प्रथम स्टाकहोम में इस प्रकार के अनुवर्षस्तरों का अध्ययन करके तिथि-निर्धारण का प्रयास किया था।

अनुवर्षस्तरी का निर्माण ऐसे क्षेत्रों में होता है, जहाँ हिम-नदियों के पिघले-जल (Melt-water) का विसर्जन स्थिर-जल में होता है। ग्रीष्म-काल में बर्फ के पिघलने के कारण हिम-नदियाँ बहुत अधिक मात्रा में जल विसर्जित करती हैं। हिम-नदियों का जल, पत्थरों में घर्षण के कारण बने बालू तथा बहुत बारीक चिकनी मिट्टी को भी, बहाकर लाती हैं। पानी द्वारा लाई हुई यह सामग्री सम्पूर्ण झील अथवा स्थिर-जल में मिलकर फैल जाती है और धीरे-धीरे धरातल में जमने लगती हैं। अवसादन क्रिया में अपेक्षाकृत भारी सामग्री पहले जमती है और यही प्रथम स्तर का स्वरूप धारण करती है। हल्की तथा सूक्ष्म सामग्री पूरी तरह से पानी में नहीं जम पाती है। जाड़े में पानी का विसर्जन कम हो जाता है तथा जलाशय जमने लगता है। पानी के क्रमशः जमने के कारण सूक्ष्मतर वस्तुएँ भी नीचे पहुँच जाती हैं, जो दूसरे जमाव का निर्माण करती हैं। जाड़े के मौसम के बाद ग्रीष्म काल में फिर वही प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है जमाव और अवसादन का क्रम मौसम के परिवर्तन के साथ निरन्तर उसी प्रकार से होता रहता है।

अनुवर्षस्तरी का जमाव हिम-नदी के पिघले-पानी द्वारा लायी सामग्री से स्थिर जल में होता है, अतः वे सभी अवस्थाओं में हिम-नदियों के अन्तिम-मोरेन (End-moraine) से सम्बन्धित होते हैं। प्राय: जैसे-जैसे अन्तिम-मोरेन पीछे घसकता है उसी अनुपात में अनुवर्षस्तरी भी घसकते रहते हैं।

अन्तिम-मोरेन कितने काल तक एक ही स्थान में था तथा कितने वर्षों में सम्पूर्ण जमाव हुआ था इसका अनुमान अनुवर्षस्तरी के अध्ययन से किया जा सकता है। किन्तु स्तर तथा वस्तु की तिथि निर्धारित करने के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है। भू-तत्व विज्ञान की पद्धति पर आधारित तिथि-क्रम प्रणाली द्वारा किसी भी वस्तु की तिथि-निर्धारित करने के लिए आवश्यक है कि वस्तु तथा भौतात्त्विक स्तर का सम्बन्ध स्थापित कर के स्तर की निर्पेक्ष-तिथि निर्धारित की जाये। स्तर की तिथि-निर्धारित करना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि उसी के आधार पर अन्य स्तरों तथा उनमें प्राप्त होने वाली वस्तुओं की तिथि निर्धारित करते हैं। अनुवर्षस्तरों की तिथि दो प्रकार से निर्धारित करते हैं। प्रथम के अनुसार अनुवर्षस्तरों का सम्बन्ध इस प्रकार के भौतात्त्विक स्तरों से स्थापित करते हैं जिसकी तिथि निर्धारित हो। इसके लिए हिमयुगों तथा अन्तर्हिमयुगों के जमाव विशेष सहायक होते हैं। चूंकि हिमयुगों तथा अन्तर्हिम युगों की जलवायु हिम के विस्तृत तथा संकुचित होने पर आधारित थी, अतः उनका सम्बन्ध अन्तिम-

मोरेन तथा अनुवर्षस्तरी से भी स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार अनुवर्षस्तरी का सम्बन्ध जलवायु के इतिहास की किसी विशेष घटना से स्थापित कर के उसका सम्बन्ध पुरातात्त्विक संस्तर (Archaeological Horizon) से करते हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध एक बार स्थापित होने के बाद तिथि-निर्धारण अपेक्षाकृत सुलभ हो जाता है।

दूसरी विधि के अनुसार तिथि-निर्धारण जमाव के आन्तरिक साक्ष्य से करते हैं। पीट (Peat) तथा अन्य जैव अवसाद (Organic Sediments) के वनस्पतिक अन्वेषण (Botanical Investigation) द्वारा यह निर्धारित किया जा सकता है कि जलवायु के किस पक्ष में उन स्तरों का निर्माण हुआ था। फिर उनका सम्बन्धीकरण हिमयुगों तथा अन्तर्हिमयुगों से कर के उसकी तिथि-निर्धारित करते हैं। अशुद्धियों की सम्भावना को दूर करने के लिए प्रायः दोनों ही विधियों से परीक्षण करते हैं।

सैद्धान्तिक रूप से ये दोनों विधियाँ सरल प्रतीत होती हैं, किन्तु वास्तव में अनेक कठिनाइयों का समाधान करना पड़ता है। सबसे अधिक कठिनाई अनुवर्षस्तरों की गणना में होती है। प्रायः सभी स्तर एक ही स्थान पर नहीं मिलते हैं। विभिन्न अनुभागों का अध्ययन कर के उनका क्रम स्थापित करते हैं। तदनन्तर उनकी गणना की जाती है। कभी-कभी एक अनुभाग से दूसरे अनुभाग में गणना करते समय एक ही स्तर की गणना एक से अधिक बार हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक ही स्तर सभी स्थानों पर एक ही मुटाई का नहीं होता है। उसका जमाव कहीं पर मोटा तथा कहीं पर पतला होता है, अतः विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होने वाले एक ही जमाव को पहचानना प्रायः कठिन हो जाता है। इसके निदान के लिए प्रसिद्ध विद्वान् सौरामो का सुझाव है कि स्तरों की सामग्री एवं संरचना का भी परीक्षण करना चाहिए।

तीसरी कठिनाई सामग्री के स्थान को निश्चित करने में होती है। कभी-कभी सामग्री अपने स्थान से नीचे धस जाती है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन होता है कि वे अपने वास्तविक स्थान पर ही थे।

ऊपर वर्णित कठिनाइयाँ इस प्रकार की नहीं हैं कि उनका निराकरण नहीं किया जा सकता। इनका निदान परीक्षण तथा पुनर्परीक्षण से सहज ही किया जा सकता है। इन सभी कठिनाइयों के दूर होने पर निर्पेक्ष तिथि-निर्धारित करने के लिए यह बहुत उपयोगी प्रणाली सिद्ध हो सकती है।

वृक्ष-वलय (चक्र) विश्लेषण प्रणाली (Tree-ring Analysis or Dendrochronology)

इस पद्धति की कल्पना १९०१ में सर्वप्रथम डगलस नामक विद्वान् ने की थी। वृक्ष-वलय विश्लेषण पद्धति का सिद्धान्त वृक्ष-वलय अथवा वृक्षों के रेशों के वार्षिक विकास पर आधारित है। संसार के जिन प्रदेशों में जलवायु परिवर्तन बिलकुल नियमित होता है अर्थात् शुष्क और आर्द्र जलवायु अथवा कम ठण्डी और बहुत ठण्डी जलवायु क्रमिक रूप से बदलती रहती है वहाँ पर वृक्ष-वलयों का विकास नियमित रूप से होता है अर्थात् एक वर्ष में एक वलय बनता है।

वर्षाकाल अथवा वसन्त में वृक्ष-तन्तुओं का विकास होता है तथा बहुत पतली कोशिकाओं (Cells) का निर्माण होता है। ग्रीष्म काल के समाप्त होते-होते कोशिकाएँ छोटी (Cells) और उनकी दीवालें मोटी (Thick) हो जाती हैं। जो एक रेशे अथवा वलय का स्वरूप धारण कर लेती हैं। दूसरे

वर्ष जलवायु परिवर्तन के साथ-साथ फिर नयी कोशिकाओं का निर्माण होता है । ये नवीन वलय को जन्म देती हैं । यह क्रम प्रति वर्ष चलता रहता है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एक ही वृक्ष के विभिन्न वलयों में एकरूपता नहीं होती है । वृक्षों की आयु-वृद्धि के साथ-साथ वलय की मुटाई सूक्ष्म होती जाती है । इसके अतिरिक्त जलवायु की वार्षिक अनियमितता के कारण भी वलयों की मुटाई में परिवर्तन हो जाता है । कभी-कभी विस्तृत शुष्क काल के कारण अपेक्षाकृत बहुत पतले वलयों का निर्माण होता है । इसी प्रकार विस्तृत आर्द्रकाल के कारण मोटे वलय का निर्माण होता है । साधारणतया वृक्ष-वलयों की विभिन्नता तथा जलवायु की अस्थिरता में पारस्परिक सम्बन्ध मिलता है । चूंकि वृक्ष-वलयों का निर्माण जलवायु के परिवर्तनों से सम्बन्धित होता है, अतः समान जलवायु के प्रदेशों के वृक्षों के वलय भी समान होंगे । एक वृक्ष-वलय को दूसरे वृक्ष-वलय से सम्बन्धित किया जा सकता है । ऐसी दशा में नये वृक्षों के आन्तरिक वलय का सम्बन्धीकरण पुराने वृक्षों के वाह्य वलय से किया जाता है । वृक्ष-वलयों की गणना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे जीवित वृक्ष हों । पुराने घरों में लगे वृक्षों के लट्ठों के वलयों की गणना भी इस विधि से कर के उनकी तिथि-निर्धारित की जा सकती है ।

सैद्धान्तिक रूप से वृक्ष-वलयों का अध्ययन बहुत सरल प्रतीत होता है । क्रियात्मक रूप में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं । जैसे, बहुत से वृक्षों में स्थानीय विशेषताओं—जलाशयों की निकटता अथवा जल की न्यूनता —के कारण वलय नियमित नहीं होते हैं । एक के स्थान पर दो वलय बन जाते हैं; पूरा वलय नहीं बन पाता आदि । इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के वृक्षों में वलय का निर्माण ऐसा नहीं होता है कि उनका अध्ययन किया जा सके । अतः सभी स्थानों के वृक्षों का अध्ययन नहीं किया जा सकता है । केवल ऐसे ही वृक्षों का अध्ययन किया जा सकता है जहाँ वर्ष में दो भिन्न प्रकार की जलवायु क्रमिक रूप से होती है ।

नवीन वृक्ष के वलय को प्राचीन वृक्ष-वलय से सम्बन्धित करना भी सरल नहीं है । यदि किसी प्रकार से इन कठिनाइयों का निराकरण कर लें, तो यह विधि बहुत उपयोगी हो सकती है । किसी भी प्राचीन वृक्ष के लट्ठे से तिथि-निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि या तो जिस स्तर से वह प्राप्त हुआ है उसकी तिथि ज्ञात हो या उसका सम्बन्धीकरण ज्ञात तिथि वाले वृक्ष से किया जा सके । वृक्षों की पारस्परिक कड़ी का निर्धारण आवश्यक होता है। सूक्ष्म रूप से वलयों तथा अनुवर्षस्तरी का एक ही सिद्धान्त है । यदि एक बार उनके काल-क्रम का निर्धारण कर लें, तो निर्पेक्ष तिथि निश्चित की जा सकती है ।

भौतिक

कार्बन[14] तिथि-क्रम प्रणाली (C^{14} Method of Dating)

अभी तक वर्णित सभी तिथि-क्रम प्रणालियों में C^{14} सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक है । इस विधि द्वारा किसी भी वस्तु की तिथि उसके आन्तरिक तत्त्वों के आधार पर सौर्य-वर्षों में निर्धारित की जा सकती है। इस विधि के प्रवर्तक डब्लू० एफ० लिबी नामक विद्वान् थे । कालान्तर में अनेक विद्वानों ने इस पर कार्य कर के इसकी विधि को परिष्कृत किया ।

रेडियो कार्बन प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सौर्य-विकिरण, रेडियो ऐक्टिव (Radio Active) कार्बन (C^{14}) उत्पन्न करता है। C^{14} साधारण कार्बन ^{12} का आइसोटोप होता है तथा वातावरण में यह भी C^{12} के साथ वर्तमान रहता है। चूँकि सभी जीवित पदार्थ (Organic Bodies) वातावरण में निहित कार्बन का निरन्तर अवशोषण (Absorb) करते हैं, अतः सभी जीवित पदार्थों में C^{12} तथा C^{14} एक निश्चित अनुपात में विद्यमान रहता है।[1] वस्तु की मृत्यु के बाद C^{14} का विघटन (Disintegration) प्रारम्भ हो जाता हैं। विघटन-दर (Rate of disintegration) सदैव ही एक रहता है। वह साधारणतया बाह्य वस्तु से प्रभावित नहीं होता। इसका विघटन एटकिन के अनुसार ८० वर्षो में एक प्रतिशत होता है। अर्थात् ५,००० वर्षों में केवल अर्ध-जीवन[2] (Half life) रह जाता है। अर्ध-जीवन के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत माप ५५६८±३० वर्ष है। किन्तु कुछ लोगों का मत है कि ५७३०±४० वर्षों का अर्ध-जीवन अधिक उपयुक्त है।[3] यदि C^{14} का अर्ध-जीवन ५७३० वर्ष मान लें तो लगभग ११,४६० वर्षों में वह चौथाई तथा २२६२० वर्षों में केवल आठवाँ भाग शेष रह जावेगा। C^{14} का कितना भाग शेष है इसका अनुमान C^{12} के साथ अनुपात निकाल कर किया जा सकता है। एक बार इस अनुपात के पता चलने के बाद तिथि-निर्धारण में कोई विशेष कठिनाई नहीं रह जाती है। चूँकि प्रारम्भ में ही C^{14} की मात्रा बहुत कम रहती है, अतः इस विधि से ४० या ५० हजार वर्षों से अधिक की तिथि निकालना सम्भव नहीं है। हेरिंग (Haring) आदि विद्वानों ने कुछ संशोधन कर के एक पद्धति निकाली है, जिसके द्वारा C^{14} तिथि-विधि से ७०,००० वर्षों तक की प्राचीन वस्तु की तिथि निर्धारित की जा सकती है। अभी तक विश्व में केवल नीदरलैण्डस (Netherlands) की ग्रोनिनजेन प्रयोगशाला में ही ४०,००० वर्षों से अधिक प्राचीन तिथि का निर्धारण शुद्धतापूर्वक किया जा सकता है।

C^{14} तिथि-विधि के अनुसार कोयले, लकड़ी जली वस्तुएँ, हड्डी, बाल, पत्तियाँ, खाद-मिट्टी (Humus), अनूपमृत्तिका (Swamp earth), अक्षार-जल (Fresh water) चूना-पत्थर (Lime-Stone) आदि वस्तुओं का परिक्षण एवं तिथि-निर्धारण किया जा सकता है।

C^{14} तिथि विधि यद्यपि अन्य विधियों से अधिक विकसित है, किन्तु फिर भी अशुद्धियों की सम्भावना बहुत अधिक है। बटजर[4] के अनुसार तीन प्रमुख प्रकार की अशुद्धियों की सम्भावना हो सकती है। वे इस प्रकार हैं—

१. सांख्यकीय-क्रियात्मक अशुद्धि (Statistical-mechanical Error)

२. C^{14} के नमूने (Sample) के प्राप्ति-स्तर सम्बन्धी अशुद्धता

३. प्रयोगशाला तथा मापकीय सम्बन्धी अशुद्धि

---

१. अर्नोल्ड, होण्डा एण्ड लाल—जर्नल आव जीओफिजिकल रिसर्च, १९६१, ६६।

२. ऐटकिन, एम० जे०—फिजिक्स एण्ड आर्क्यालजी, १९६७, पृ० ८६।

३. गौडविन, एच—नेचर १९६२; मन्, डब्लू० बी०, मार्लो, डब्लू० एफ० एण्ड हेग, ई०—इण्टर-नैशन जर्नल आव एपलाइड रेडिएशन एण्ड आइसोटोप्स, १९६१।

४. बटजर, के० डब्लू०—इनवायर्नमेण्ट एण्ड आर्क्यालजी, १९६४, पृ० ३०-३४।

१. रेडियो एक्टिव कार्बन के कुछ अनियमित विघटन के कारण सांख्यकीय-क्रियात्मक अशुद्धि होती है। इस अशुद्धि के निराकरण के लिए ही सभी C^{14} तिथियाँ धन (Plus) तथा ऋण (Minus) (६,२४०±३२० वर्ष में) दी जाती हैं। इसका अर्थ है कि ६७ प्रतिशत वस्तु की तिथि दोनों कोष्टकों (५,६२० तथा ६,५६० वर्षों) के बीच होगी तथा ६६ प्रतिशत सम्भावना है कि ± संख्या के दूने कोष्टक (५,००० तथा ६,८८० वर्ष) में होगी।

२. C^{14} के नमूने में अशुद्धियाँ अनेक प्रकार से हो सकती हैं।

अ. प्राचीन काल में C^{14} के केन्द्रीकरण (Concentration) में उतार-चढ़ाव।

ब. विभिन्न वस्तुओं में C^{14} के केन्द्रीकरण की मात्रा में अन्तर।

स. नमूने का स्थानीय सम्पर्क-विकार (In-situ Contamination)

अ. कुछ विद्वानों की धारणा है कि सौर्य-विकिरण के उतार-चढ़ाव ने वातावरण आदि में C^{14} के केन्द्रीकरण को निश्चय ही प्रभावित किया होगा। रोशाल्ट (Roshalt) आदि विद्वानों के विचार में लगभग ६४००० वर्षों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु गत तीस-चालीस वर्षों में हाईड्रोजन आदि बमों के परीक्षण तथा विस्फोट ने निश्चय ही वनस्पति आदि में C^{14} की प्रक्रियाओं में लगभग २५ प्रतिशत वृद्धि कर दी होगी। इससे अधिक अशुद्धता स्ट्रोनटियम-६० (Strontium-90) के वर्षा-जल के साथ पृथ्वी की मिट्टी से मिलने के कारण होती है।

ब. रेडियो ऐक्टिव कार्बन में प्रायः रेडियो ऐक्टिविटी-विहीन कार्बन (Radio-actively dead Carbon) के मिश्रण में भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थिति होती हैं। मोलस्का (Mollusca) या जलीय वनस्पति पुराने चट्टानों आदि से प्राचीन कार्बोनेट ग्रहण करती है, जिसके फलस्वरूप उनकी C^{14} सक्रियता बहुत क्षीण लगती है। यदि इनका परीक्षण करें, तो ये अधिक प्राचीन तिथि का निर्देश करेंगे।

समान प्राचीनता की विभिन्न वस्तुओं के परीक्षण से प्रायः एक तिथि नहीं मिलती है। कोयला, पीट (Peat) तथा लकड़ी सबसे सही तिथियाँ देती हैं। किन्तु शेल तथा हड्डियों की तिथियाँ उतनी शुद्ध नहीं आती हैं।

स. भू-जीव रसायनिक सम्पर्क विकार (Geobiochemical Contamination) सबसे निकृष्ट प्रकार का स्थानीय (In-situ) विकार है। पानी के माध्यम से ह्यूमिक एसिड तथा अन्य वस्तुएँ धरातल के नीचे पहुँच जाती हैं और उनके सम्पर्क में जितनी वस्तुएं आती हैं, वे सभी विकृत हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त वृक्षों की जड़ें भी विकृत पदार्थ को नीचे ले जाने में सहायक होती हैं। इन विकारों का बहुत कुछ निदान सफाई द्वारा हो जाता है, किन्तु फिर भी थोड़ा बहुत रह ही जाता है, जिसके कारण एकदम सही तिथि नहीं मिल पाती है।

३. प्रयोग शाला सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी प्रायः तिथि की विभिन्नता के लिए उत्तरदायी हैं। विभिन्न प्रयोगशालाएँ C^{14} का अर्ध-जीवन अलग-अलग मानती हैं—५,५७० वर्ष, ५७६० वर्ष, ५७३०± ४० वर्ष आदि। अर्ध-जीवन की विभिन्नता के अतिरिक्त तिथि की शुद्धता रेडियो कार्बन काउण्टर

(Radio Carbon Counter) की कुशलता तथा रेडियो कार्बन की विश्लेषण पद्धति पर भी आधारित होती हैं। कार्बन की सफाई किस प्रकार से की गई है यह भी तिथि में बहुत अन्तर उत्पन्न कर देता है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होने पर भी C^{14} तिथि विधि का महत्त्व बहुत अधिक हैं, क्योंकि अभी तक ज्ञात सभी प्रकार की तिथि-विधियों में यही सबसे अधिक वैज्ञानिक है। अधिक परिशुद्धता के लिए आवश्यक है कि एक ही स्थान की कई कार्बन तिथियाँ प्राप्त की जायें। अकेली तिथि पर, अशुद्धियों की सम्भावना के कारण अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए।

कार्बन^{14} तिथियों की गणना बी०, पी० (Before Present=वर्तमान-पूर्व) में की जाती है। इसे ईसा पूर्व (B.C.) या ईसवी (A.D.) में परिवर्तित करने के लिए १९५० ई० मापवर्ष माना गया है। अर्थात् बी० पी० की तिथि में से १९५० घटाने पर बी० सी/ए० डी० की तिथि उपलब्ध होगी।

पोटेशियम आरगन प्रणाली (Potassium Argon Method)

अइसोटोपिक विधि से तिथि-निर्धारण करने की दूसरी विधि पोटेशियम आरगन विधि है। इस विधि से सहस्रों वर्ष प्राचीन वस्तु की तिथि निर्धारित की जा सकती है। इसमें आइसोटोप पोटेशियम-४० का प्रयोग करते हैं, जो आरगन गैस में विघटित होती है। यह भी C^{14} प्रणाली के समान सिद्धान्त पर ही आधारित है। इसमें सूत्र K४०/A४० विघटन के अनुपात का निर्देश करती हैं। जिसके आधार पर तिथि का पता लगाया जा सकता है। इसका अर्ध-जीवन १,३३० सहस्र वर्ष है। इस विधि से ज्वालामुखी जनित अधिक पोटेशियम युक्त खनिज पदार्थों का विश्लेषण कर के तिथि निकालते हैं। एवरडन आदि विद्वानों ने अपने प्रयास से इस विधि को परिष्कृत किया है, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ गई है। प्रातिनूतन काल की निश्चित तिथि निर्धारण करने में इस विधि का बहुत योगदान है। टांगानीका (Tanganyka) में ओल्डुआई (Olduvai) के प्रथम स्तर (bed I) की तिथि इस विधि से निर्धारित की गई है। प्रथम स्तर (bed I) के निम्न स्तर की तिथि १·९ सहस्र वर्ष तथा ऊपर की तिथि १·५ सहस्र वर्ष आई हैं। इस विधि से कम प्राचीन वस्तुओं की तिथि की शुद्धता सन्दिग्ध है।

संक्षिप्त ग्रंथ-सूची

Baden Powell, D. F. W.

—"Experimental Clactonian Technique"
P P H S Vol. XV, 1949.

Barnes, S. Alfred

—"The Technique Of Blade Production In Mesolithic And Neolithic Times."
P P H S Vol. XIII, 1947.

Bhattacharya, R. K.

—"Indian Rostrocarinates" Appendix II to Prehistoric India by P. Mitra, 1923.

Clark, Grahame

—"Blade And Trapeze Industries of The European Stone Age"
P P H S Vol. XXIV, 1958.

Cotton, C. A.

—Geomorphology (IV) Edition, 1945.

Curwen, E. Cecil

—"Some Food Gathering Implements"
Antiquity, Vol. 15, 1941.

Dani, A. H.

—Prehistory And Protohistory of Eastern India, 1960.

Daniel, G. E.

—A Hundred Years of Archaeology.
London, W. C. 2, 1950.

—The Three Ages, 1943.

De Terra, H. & Paterson, T. T.

—Studies on The Ice Ages In India And Associated Human Cultures, 1939.

De Terra, H., Teilhard De Chardin, P. Movius. H.

—"Geological And Archaeological Aspects of The South-Eastern Asia," Nature, Vol. CXLII, London, 1938.

Garrod, D. A. E.

—The Natufian Culture : The Life and Economy of a Mesolithic People in the Near East, 1957.

Goodwin, A. J. H.

—"The Terminology of Prehistory" S A A B Vol. 1 No. 4, 1946.

—"Some Developments in Technique During the Earlier Stone Age" Trans. Roy, Soc. S. Afr. XXX, p. 109-124, 1930.

Joshi, R. V.

—"Influence of The Raw Material on The Palaeolithic Industry Of The Malaprabha River." Ind. Sci. Cong., Lucknow, 1955.

Kelley, Harper.

—"Acheulian Flake Tools" P P H S Vol. III, 1937.

Kroebar, A. L. (Ed.)

—Anthropology Today, 1954.

Lal, B. B.

—"Birbhanpur, A Microlithic Site in the Damodar Valley, West Bengal" A I No. 14, 1958.

Leakey, L. S. B.

—Olduvai Gorge (A Report on the Evolution to the Hand-axe Culture in beds), 1955.

—Adams Ancestors, 1953.

—"Stone Implements—How they are made and used" S. Afr. Arch. Bull. Vol. V, 1950.

—"Working Stone, Bone & Wood" A History of Technology, Ed. by Charles, S. et al. Vol. I, 1956.

Lowe, C. V. R.

—"The Evolution of the Levalloisian Technique in S. Africa"
Man. XLV. No. 37-51, 37, 1945.

Misra V. N.

—"Problems of Terminology In Indian Prehistory."
E A Vol. XV No. 2, 1962.

Mitchel, S. R.

—Stone Age Craftsmen, 1949.

Movius H. L.

—"The Lower Palaeolithic Cultures of Scuthern And Estern Asia"
Trans. Amer. Phil. Soc. XXXVIII, No. 4, 1948.

—Early Man Pleistocene Stratigraphy In Southern And Eastern Asia".
P. Peabody Mus. Of Amer. Arch. & Ethno.
Vol. XIX, No. 3, 1944.

Noone, H. V. V.

—"Burins And Their Classification"
Jour. Royal. Anth. Inst. Vol. XLIV.

Oakley, K. P.

—Man The Tool Maker, 1958.

Sankalia, H. D.

—Stone Age Tools, Their techniques, names and functions, 1964.

Subbarao, B.

—Chalcolithic Blade Industry Of Maheshwar (C. I.) A note on the History of the Technique" B D C R I Vol. XVII No. 2, 1955

—Stone Age Cultures Of Bellary. 1948.

Tallgren, A. M.

—"The Method Of Prehistoric Archaeology"
Antiquity. Vol. XI, No. 42, 1937.

Thaper, B. K.

—"Neolithic Problem In India" Indian Prehistory—1964.

Varma, R. K.

—The Stone Age Cultures Of Mirzapur.
(Thesis Unpublished) University Alld., 1964.

Wright, W. D,

—Tools And Man, 1939.

Zeuner, F. E.

—Dating The Past : An Introduction To Geochronology, 1952.

—The Pleistocene Period, 1959.

—Environment Of Early Man With Special Reference to The Tropical Regions, 1963.

Zeuner, F. E. & Allchin, B.

—The Microlithic Sites Of The Tinnevelly District, A I No. 12, 1956.

हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द-कोष

अ

अकृत्रिम आघात-स्थल	Unprepared Striking Platform
अंगुष्ठ-नख स्क्रेपर	Thumb-nail Scraper
अज्यामितिक लघु-पाषाणोपकरण	Non Geometric Microliths
अ-चक्रिक वेदिका	Non-cyclic Terrace
अर्धचान्द्रिक	Lunate
अर्धवृत्ताकार गर्त	Cirq
अर्ध-शंकु का चिह्न	Bulbar Scar
अतिनूतन काल	Pliocene
अनगढ़ित	Unretouched
अन्तर्निर्मित चट्टान	Intrusive Rock
अन्तिम मोरेन	Terminal Moraine
अन्त-फलक	End Flake
अन्त-स्क्रेपर	End Scraper
अन्त-सोहन	Late Sohan
अनुपयोजित फलक	Unutilised Flake
अनियमित	Irregular
अनुवृत्तीय टीला	Parabola
अनुवर्षस्तरी	Varve
अनुवर्षस्तरी विश्लेषण	Varve Analysis
अपरदन	Erosion
अपसर्पण मोरेन	Recessional Moraines
अमेरुदण्डी पशु-युग	Age of Invertebrate Life
अप्रत्यक्ष संघात प्रविधि	Indirect Percussion Technique
अरेट	Arete
अवरप्रवालादि काल	Ordovician Period
अवसादन-दर	Rate of Sedimentation
अशारीरिक अवशेष	Extracorporeal Remains

असिताश्म, बसाल्ट	Basalt
अस्त्राग्र, वाणाग्र	Point

आ

आग्नेय चट्टान	Igneous Rock
अघात-स्थल	Striking Platform
आघात-शंकु	Cone of Percussion
आदि कल्प	Archaeozoic
आदि नूतन काल	Oligocene
आदिम निवासी	Primitive People
आर्द्रता	Humidity
आद्यनूतन	Eocene
आद्य-नवपाषाण युग	Proto-neolithic Age
आद्यैतिहासिक काल	Proto-historic Period
आधारशिला	Bed-rock
ऑब्सीडियन	Obsidian
आड़ा टीला	Longitudinal Sand-dune
आक्षिक	Oblate

ओ

ओपल	Opal

ई

ईओलिथ	Eolith

उ

उच्च अंगार काल	Upper Carboniferous
उच्च-पूर्वपाषाण काल	Upper Palaeolithic
उत्थित पुलिन	Raised Beaches
उठाव	Deflation
उदर-पक्षीय	Ventral
उन्नत	Prominent
उन्नतोदर	Convex
उन्नतोदर कायांग आक्षिक	Convex Oblate
उप-आर्द्रकाल	Sub-Humid Phase
उपकरण समुदाय	Tool Assemblage
उपयोजित फलक	Utilised Flake
उपरत्न	Semi-precious Stone

उत्तर ध्रुवीय	Tundra
उत्तर पाषाण काल	Late Stone Age
उभय पक्षीय	Bifacial
उष्ण कटिबंध	Tropical Zone
ए	
एकान्तर फलकीकरण	Alternate Flaking
एकान्तर फलकीकरण प्रविधि	Alternate Flaking Technique
'S' ट्विस्ट	'S' Twist
एक पार्श्वीय केन्द्रक	Unilateral Nucleates
एक पार्श्वीय समतल उपकरण	Unilateral Flat-base
एस्कर	Esker
एक पक्षीय	Unifacial
एक पक्षीय पुनर्गठन	Unifacial Retouching
ऐ	
ऐण्डेसाइट	Andesite
क	
कच्छप कोर	Tortoise Core
कच्छप-पृष्ठ	Turtle-back
केन्द्रक	Nucleates
केन्द्रोन्मुख	Centrally Directed
कटक	Ridge
केटिल	Kettles
कपालीय समावेश	Cranial Capacity
क्रम	Sequence
क्रम वर्द्धमानवृत्त	Ever Widening Circles
क्रमिक	Regular
केम तथा केम टैरेस	Kames And Kame Terrace
क्रमबद्ध	Very Regular
कोमल अथवा बेलनाकार हथौड़ा पद्धति	Soft or Cylindrical Hammar Technique
कोमलता	Softness
कोमल हथौड़ा	Soft Hammar
कार्नेलियन	Carnelian
कपाल	Skull
कार्यांग	Working Edge
कोर	Core

कोर-उपकरण उद्योग	Core-tool Industry
काल-क्रम	Chronology
कोल	Col
कोष्ठक	Bracket
क्रेस्टेड रिज	Crested-ridge
कृत्रिम आघात-स्थल	Prepared Striking Platform
ख	
खटीकाल	Crataceous
खगोलीय	Astronomical
खनिज पदार्थ	Minerals
ग	
गठित (फलकित) आघात-स्थल	Faceted Striking Platform
गिरिकाल	Permian
ग्रैवेल	Gravel
गहरे फलक-चिह्न	Deep Flake Scar
घ	
घिसाव	Abrasion
च	
चक्रिक वेदिका	Cyclic Terrace
चञ्च्वाकार	Beak-like
चूर्णीकरण अथवा क्रियात्मक	Mechanical
चमकदार (ओपदार) पाषाण कुल्हाड़ी	Polished Stone axes
चौरसतल	Flat Base
चतुर्थक	Quaternary
छ	
छिछले	Shallow
छिछले फलक-चिह्न	Shallow Flake-scars
छिछली तश्तरियाँ	Shallow Saucers
छिद्रक	Borer
ज	
जैव अवसाद	Organic Sediments
जैविक	Biological
जैविक नृतत्त्वशास्त्र	Physical Anthropology
जीवाश्म	Fossils

जीवाश्म विज्ञान	Palaeontology
जैस्पर	Jasper
जलवायु-जनित	Climatic
ट	
टायगा	Taiga
ड	
डाइयोराइट	Diorite
डोलराइट	Dolerite
ड्रमलिन	Drumlin
त	
तकनीकी	Technological
तृतीय आर्द्रकाल	Third Wet phase
तृतीयक	Tertiary
तापीय कारण	Thermal Action
तलस्थ मोरेन	Ground Moraine
तरंगचिह्न	Ripple-mark
द	
दीर्घकापालिक	Dolico-cephalic
द्वितीय फलकीकरण	Secondary Flaking
दन्तरित ब्लेड	Serrated Blade
दरार	Fissures
द्रवपदार्थ	Magma
द्विपार्श्वीय समतल उपकरण	Bilateral Flat Base
दक्षिण ध्रुवीय	Antarctic
न	
नोक	Point
नौकाकृति	Boat Shaped
नुकीला कार्यांग आक्षिक	Pointed Oblate
नृतत्त्वशास्त्र	Anthropology
नूतन	Holocene
नदी अनुभाग	River Section
निम्न-अंगार काल	Lower Carboniferous
निम्न-पूर्वपाषाण काल	Lower Palaeolithic
निपीड प्रविधि	Pressure Technique

निर्बाध फलकीकरण	Free Flaking
नियंत्रित फलकीकरण	Controlled Flaking
निर्पेक्ष-तिथि	Absolute Date
नालीमत कोर	Fluted Core
नव-पाषाण युग	Neolithic Age
नाशपात्याकृति	Pear-shaped
निक्षेपण	Deposition
प	
पंकदरार	Mud-crack
पिघलाजल	Melt-water
पीट	Peat
पैटीनेशन	Patination
पत्थर के चिपटे टुकड़े	Chunk
पुनर्गठन	Retouching
पुनर्गठित	Retouched
पुनर्जीवित	Rejuvenate
पेबुल	Pebble
पेबुल-उपकरण उद्योग	Pebble-tool Industry
पेबुल-समन्तान्त हैण्डऐक्स	Pebble butted Handaxe
पुराकल्प	Palaeozoic
परिकलन	Calculation
पुरातत्त्व	Archaeology
परिधीय केन्द्रक	Peripheral Nucleates
पार्फिरायटी, परिपृक्तशिला	Porphyritic
पुराप्राणि विज्ञान	Palaeo-zoology
परिवर्तित चट्टान	Metamorphic Rock
पुरानूतन काल	Palaeocene
पुरावनस्पतिशास्त्र	Palaeo-botany
परिस्थितिकी	Ecology
परिहिमायित मण्डल	Periglacial Zone
परिशुद्धता	Accuracy
पुरुषाभ	Anthropoids
अगेट, पाल्यश्म	Agate
पूर्वपाषाण काल	Palaeolithic Age
पार्श्वफलक	Side Flake
पार्श्व स्क्रेपर	Side Scraper

पार्श्विक मोरेन	Lateral Moraine
पृष्ठीय	Dorsal
पाषाणयुगीन आर्थिक दशा	Stone Age Economy
प्राक्प्राथमिक	Archaean
प्रकारात्मक	Typological
प्राकृतिक विज्ञान	Natural Science
प्रागितिहास	Prehistory
प्राणिशास्त्रवेत्ता	Zoologists
प्रातिनूतन	Pleistocene
प्राथमिक फलकीकरण	Primary Flaking
प्रथम उच्चयन काल	First Aggradational Phase
प्रादिकल्प	Proterozoic
प्रारम्भिक पाषाण काल	Early Stone Age
प्रवालादी काल	Silurian
प्रवाह-मोड़	Meander
प्रवाह-क्षेत्र	Flood Plains
पृष्ठ-रेखा	Ridge

फ

फलक	Flake
फलकीकरण	Flaking
फलक-चिह्न	Flake-scar
फलक-पक्ष	Flake-Surface
फलक उपकरण उद्योग	Flake-tool Industry
फाइलाइट	Phyllite
फ्लिण्ट	Flint
फरसा	Battle Axe

ब

बेंट	Handle
बेड़े अनुभाग	Cross-section
बेड़ा रेत का टीला	Transverse Sand-dunes or Barkans
बादामाकार हैण्डऐक्स	Almond Shaped Handaxe
ब्लेड	Blade
बेलनाकार	Cylindrical

बाह्यक	Cortex
बहुधंधी	Multipurpose
बाह्य-रेखा	Outline

भ

भौतिक	Physical
भौतिकशास्त्र	Physics
भूतत्त्व विज्ञान	Geology
भौतात्त्विक कल्प	Geological Ages
भुथड़ा	Blunted
भुथड़े पार्श्व ब्लेड	Blunted back Blade
भंवर	Eddies
भू-वैज्ञानिक	Geological

म

मिकोकियन हैण्डऐक्स	Micoquian Handaxe
मिण्डेल	Mindel
मत्स्यकाल	Devonian
मृतझील या मोड़दार झील	Oxbow Lake
मध्यकापालिक	Meso-cephalic
मानवसम	Homonid
मध्य-कल्प	Mesozoic
मध्य-नूतन काल	Miocene
मध्य-पाषाण काल	Middle Stone Age
मध्य-पूर्वपाषाण काल	Middle Palaeolithic
मध्यस्थ मोरेन	Medial Moraine
मानविकी शास्त्र	Humanities
महासरटकाल	Jurassic
मिश्रित उपकरण	Composite Tool

य

युग्मित	Paired

र

रक्ताश्म काल	Triassic
रुखानी	Chisel
रुखानी/छेनी-कार्यांग हैण्डऐक्स	Chisel-ended Handaxe
रेत का टीला	Sand-dune

राइयोलाइट	Rhyolite
रौस्ट्रोकैरीनेट	Rostrocarinate
रसायनिक	Chemical
रसायन शास्त्र	Chemistry
रुक्षकरण	Coarse-grained
ल	
लघुकापालिक	Brachycephalic or Round Headed
लोयस	Loess
लोयस स्टेपी	Loess Steppe
व	
वक्र	Curve/Oblique
विकसित अ्राशूलियन	Developed Acheulian
विगलन	Decomposition
वेदिका	Terrace
वनस्पतिक अन्वेषण	Botanical Investigation
विभंग; विभंगित	Fault; Faulted
बरछाकार हैण्डऐक्स	Lanceolate Handaxe
वलन	Fold
वलय	Ring
वृत्तात्मक स्क्रेपर	Round Scraper
विवर्तनिक	Tectonic
विशिष्ट	Specialised
वृष्ट्यावर्तन (वर्षाकाल)	Pluvial
विसरित	Diffused
बहिर्निर्मित चट्टान	Extrusive Rock
वीक्षाकार	Lense Shaped
श	
शब्दार्थ तथा वास्त्वार्थ	Denotation and Connotation
शिलापट्ट	Slate
स	
सैकत्यशैल	Siliceous Rock
सिकताश्म (बालुकाश्म)	Sand Stone
सिक्थस्फटिक/कैल्सेडनी	Chalcedony
संगमर्मर	Marble
स्तरीकरण	Stratigraphy.

स्तरित चट्टान	Sedimentary Rock
स्तन्य पशुयुग	Age of Mammals
स्थिर-हथौड़ा/निहायी हथौड़ा पद्धति	Block-on-Block Technique
स्थानीय	In-situ
सीधा	Straight
साधननाश	Atrition
सपाट	Flat
सोपानपद फलकीकरण प्रविधि	Step Flaking Technique
सोपानाश्म	Trap
सापेक्षतिथि	Relative Date
स्फटिक	Quartz
स्फटिकाश्म	Quartzite
सुभाजा	Schist
समचतुर्भुजाकार	Diamond Shaped
सामाजिक नृतत्त्वशास्त्र	Social Anthropology
समतलीय	Flat-bases
समतलान्त उपकरण	Terminal Flat-base
समुद्रीय जल-तल परिवर्तनजनित	Thalassostatic
समन्तान्त	Buttend
समानान्तर	Parallel
सम्पर्क बिन्दु	Point of Percussion
समलम्ब चतुर्भुज	Trapeze
समशीतोष्ण- कटिबन्ध	Temperate zone
संरचना	Texture
सरीसृपयुग	Age of Reptiles
सौर्य-विकिरण	Solar Radiation
सिल्ट	Silt
स्विंगिग पद्धति	Swinging Technique
सांस्कृतिक स्तर	Cultural Stage
सह-सम्बन्धीकरण	Co-relation
सूक्ष्म	Minute
सूक्ष्म-कण	Finc Grained

ह

हार्न	Horn
हिमनदी	Glacier
हिमायित अनुवर्षस्तरी	Glacial Varve

हिमावर्तन / हिमकाल	Glacial Period
हिम प्रत्यावर्तन काल / अन्तर्हिमकाल	Interglacial Period
हिमयुग	Ice-Age
हिमविदरकेम	Crevasse Fillings
हेलुअन	Heluan
हेलुअन पुनर्गठन	Heluan Retouch

त्र

त्रिखण्डकाल	Cambrian
त्रिभुज	Triangles
त्रिभुजाकार हैण्डऐक्स	Triangular Handaxe

अंग्रेजी हिन्दी पारिभाषिक शब्द-कोष

A

Abrasion	घिसाव
Absolute Date	निर्पेक्ष-तिथि
Accuracy	परिशुद्धता
Age of Invertebrate Life	अमेरुदण्डी पशु-युग
Agate	अगैट, पाल्यश्म
Age of Mammals	स्तन्य पशु-युग
Age of Reptiles	सरीसृप-युग
Almond-Shaped Handaxe	बादामाकार हैण्डऐक्स
Alternate Flaking Technique or 'S' Twist	एकान्तर फलकीकरण प्रविधि
Andesite	ऐण्डिसाइट
Antarctic	दक्षिण ध्रुवीय
Anthropoids	पुरुषाभ
Anthropology	नृतत्त्वशास्त्र
Archaean	प्राक्-प्राथमिक
Archaeology	पुरातत्त्व
Arete	अरेट
Astronomical	खगोलीय
Atrition	साधननाश

B

Battle Axe	फरसा
Beak-like	चञ्च्वाकार
Bifacial	उभय पक्षीय
Bilateral Flat Base	द्विपार्श्वीय समतल उपकरण
Biological	जैविक
Blade	ब्लेड
Block-on-Block Technique	स्थिर-हथौड़ा/निहायी-हथौड़ा पद्धति
Blunted	भुथड़ा

Blunted back Blade	भुथड़े पार्श्व ब्लेड
Boat-Shaped	नौकाकार
Borer	छिद्रक
Botanical Investigation	वनस्पतिक अन्वेषण
Bracket	कोष्ठक
Bulbar Scar	अर्ध-शंकु का चिह्न
Butt-end	समन्तान्त

C

Calculation	परिकलन
Cambrian	त्रिखण्ड काल
Carnelian	कार्नेलियन
Centrally Directed	केन्द्रोन्मुख
Chalcedony	सिक्थस्फटिक/कैल्सेडनी
Chemical	रसायनिक
Chemistry	रसायन शास्त्र
Chert	चर्ट
Cherty-Flint	चर्टी फ्लिण्ट
Chisel	छेनी
Chisel-ended Handaxe	छेन्यान्त हैण्डऐक्स
Chunk	पत्थर के चिपटे टुकड़े
Cirq	सर्क; अर्धवृत्ताकार गर्त
Climatic	जलवायुजनित
Coarse-grained	रुक्षकण
Composite Tool	मिश्रित उपकरण
Cone of Percussion	आघात का शंकु
Controlled Flaking Techniques	नियन्त्रित फलकीकरण प्रविधियाँ
Convex	उन्नतोदर
Convex Oblate	उन्नतोदर कार्यांग लघुअक्ष
Controlled Flaking	नियन्त्रित फलकीकरण
Corc	कोर
Co-relation	सह-सम्बन्धीकरण
Core-tool	कोर-उपकरण
Core Tool Industry	कोर उपकरण उद्योग
Cortex	बाह्यक
Crataceous	खटीकाल

Crested-ridge	क्रेस्टेड रिंज
Crevasse Fillings	क्रीवेस फिलिग्स; हिमंविदर केम
Cross-section	बेड़े अनुभाग
Cultural Stage	सांस्कृतिक स्तर
Curve	वक्र
Cyclic Terrace	चक्रिक सोपान
Cylindrical	बेलनाकार

D

Deep Flake Scar	गहरे फलक-चिह्न
Denotation and Connotation	शब्दार्थ तथा वास्तवार्थ
Developed Acheulian	विकसित आशूलियन
Devonian	मत्स्यकाल
Diamond Shaped	समचतुर्भुजाकार
Diffused	विसरित
Diorite	डाइयोराइट
Dolerite	डोलराइट
Dolico-cephalic	दीर्घकापालिक
Dorsal	पृष्ठीय
Drumlin	ड्रमलिन

E

Early Stone Age	प्रारम्भिक पाषाण काल
Ecology	परिस्थितिकी
Eddies	भंवर
End-Flake	अन्तफलक
End Scraper	अन्तस्थ स्क्रेपर
Eocene	आद्यनूतन
Eolith	ईओलिथ
Erosion	अपरदन
Esker	एस्कर
Extracorporeal Remains	अशारीरिक अवशेष
Extrusive Rock	बहिर्निर्मित चट्टान

F

Faceted Striking Platform	गठित (फलकित) आघात-स्थल
Fault; Faulted	विभंग; विभंगित
Fine Grained	सूक्ष्म-कण

First Aggradational Phase	प्रथम उच्चयन काल
Fissures	दरार
Flake	फलक
Flaking	फलकीकरण
Flake-scar	फलक-चिह्न
Flake-Surface	फलक-पक्ष
Flake-tool Industry	फलक उपकरण उद्योग
Flat	सपाट
Flat-bases	समतलीय
Flint	फिलण्ट
Flinty Chert	फिलण्टी चर्ट
Flood Plains	प्रवाह-क्षेत्र
Fluted Core	नालीमत कोर
Fold	वलन
Fossils	जीवाश्म
Free Flaking	निर्बाध फलकीकरण

G

Geological	भूवैज्ञानिक
Geological Ages	भूतात्त्विक कल्प
Geology	भू-तत्त्व विज्ञान
Glacial	हिमावर्तन
Glacier	हिमनदी
Glacial Varve	हिमाग्रित अनुवर्षस्तरी
Granite	ग्रेनाइट
Gravel .	ग्रैवैल
Ground Moraine	तलस्थ मोरेन

H

Handle	बेंट
Heluan	हेलुअन
Heluan Retouch	हेलुअन पुनर्गठन
Holocene	नूतन
Homonid	मानवसम
Horn	हार्न
Humanities	मानविकी शास्त्र
Humidity	आर्द्रता

I

Ice Age	हिमयुग
Igneous Rock	आग्नेय चट्टान
Indirect Percussion Technique	अप्रत्यक्ष संघात प्रविधि
In-situ	स्थानीय
Inter Glaciation	हिम प्रत्यावर्तन
Intrusive Rock	अन्तर्निमित चट्टान
Irregular	अनियमित

J

Jasper	कपिशमणि/जैस्पर
Jurassic	महासरट-काल

K

Kames And Kame Terrace	केम्स तथा केम टैरेस
Kettles	केटिल

L

Lanceolate Handaxe	बरछाकार हैण्डऐक्स
Late Sohan	अन्ति-सोहन
Lateral Moraine	पार्श्विक मोरेन
Late Stone-Age	उत्तर-पाषाण काल
Lense Shaped	वीक्षाकार
Loess Steppe	लोयस स्टेपी
Longitudinal Sand-dune	आड़ा टीला
Lower Carboniferous	निम्न-अंगार काल
Lower Palaeolithic	निम्न-पूर्वपाषाण काल
Loess	लोयस

M

Magma	द्रवपदार्थ
Marble	संगमर्मर
Meander	प्रवाह-मोड़
Mechanical	चूर्णीकरण अथवा क्रियात्मक
Medial Moraine	मध्यस्थ मोरेन
Melt-water	पिघलाजल
Meso-cephalic	मध्य-कापालिक
Metamorphic Rock	परिवर्तित चट्टान

Mesolithic	उत्तर पाषाण काल
Micoquian Handaxe	मिकोकियन हैण्डऐक्स
Mesozoic	मध्य-कल्प
Middle Palaeolithic	मध्य-पूर्वपाषाण काल
Middle Stone-Age	मध्य-पाषाण काल
Mindel	मिण्डेल
Minerals	खनिज पदार्थ
Minute	सूक्ष्म
Miocene	मध्य-नूतन काल
Mud-crack	पंक-दरार
Multipurpose	बहुधंधी

N

Natural Science	प्राकृतिक विज्ञान
Neolithic Age	नव-पाषाण युग
Non-cyclic Terrace	अ-चक्रिक वेदिका
Non-Geometric Microliths	अज्यामितिक लघु-पाषाणोपकरण
Nucleates	केन्द्रक

O

Oblate	आक्षिक
Oblique	वक्र
Obsidian	ज्वालाकांच
Oligocene	आदि नूतन काल
Opal	ओपल
Ordovician Period	अवरप्रवालादि काल
Organic Sediments	जैव अवसाद
Outline	बाह्य-रेखा
Oxbow Lake	मृतझील या मोड़दार झील

P

Paired	युग्मित
Palaeo-botany	पुरावनस्पति शास्त्र
Palaeocene	पुरानूतन काल
Palaeolithic Age	पूर्व-पाषाण काल
Palaeontology	जीवाश्म विज्ञान
Palaeozoic	पुराकल्प
Palaeo-zoology	पुराप्राणि विज्ञान

Parabola	अनुवृत्तीय टीला
Parallel	समानान्तर
Patination	पैटीनेशन
Pear-shaped	नाशपात्याकृति
Peat	पीट
Pebble	पेबुल
Pebble-tool Industry	पेबुल उपकरण उद्योग
Pebble butted Handaxe	पेबुल-समन्तान्त हैण्डऐक्स
Periglacial Zone	परिहिमायित मण्डल
Permian	गिरिकाल
Peripheral Nucleates	परिधीय केन्द्रक
Physical	भौतिक
Physical Anthropology	जैविक नृतत्त्व शास्त्र
Physics	भौतिकशास्त्र
Phyllite	पर्णज
Pleistocene	प्रातिनूतन काल
Pliocene	अतिनूतन काल
Pluvial	वृष्ट्यावर्तन; अतिवर्षाकाल
Point	अस्त्राग्र; नोक
Pointed Oblate	नुकीला कार्यांग आक्षिक
Point of Percussion	सम्पर्क बिन्दु
Polished Stone axes	ओपदार पाषाण कुल्हाड़ी
Porphyritic	परिपृक्तशिला; पार्फिरायटी
Prehistory	प्रागितिहास
Prepared Striking Platform	कृत्रिम आघात-स्थल
Pressure Technique	निपीड प्रविधि
Primary Flaking	प्राथमिक फलकीकरण
Primitive People	आदिम निवासी
Prominent	उन्नत
Proterozoic	प्रादिकल्प
Proto-historic Period	आद्यैतिहासिक काल

Q

Quartz	स्फटिक
Quartzite	स्फटिकाश्म
Quaternary	चतुर्थक

R

Raised Beaches	उत्थित पुलिन
Rate of Sedimentation	अवसादन-दर
Recessional Moraines	अपसर्पण मोरेन
Regular	क्रमिक
Retouched	पुनर्गठित
Retouching	पुनर्गठन
Rejuvenate	पुनर्जीवित
Rejuvenation	पुनर्जीवन
Rhyolite	राइयोलाइट/बाह्राश्म
Ridge	कटक
Ring	वलय (चक्र)
Ripple-mark	तरंग-चिह्न
River Section	नदी अनुभाग
Rostrocarinate	रौस्ट्रोकैरीनेट
Round Scraper	वृत्तात्मक स्क्रेपर

S

Sand-dune	रेत का टीला
Sand Stone	सिकताश्म/बालुकाश्म
Schist	सुभाजा
Secondary Flaking	द्वितीय फलकीकरण
Sedimentary Rock	स्तरित चट्टान
Semi-precious Stone	उपरत्न
Sequence	क्रम
Shallow	छिछले
Shallow Flake-scars	छिछले फलक-चिह्न
Shallow Saucers	छिछली तश्तरियाँ
Side Flake	पार्श्वफलक
Side Scraper	पार्श्व स्क्रेपर
Siliceous Rock	सैकत्यशैल
Silt	सिल्ट
Silurian	प्रवालादी कल्प
Skull	कपाल
Slate	शिलापट्ट
Social Anthropology	सामाजिक नृतत्व शास्त्र

२०

Soft Hammer	कोमल हथौड़ा
Softness	कोमलता
Soft or Cylindrical Hammer Technique	कोमल अथवा बेलनाकार, हथौड़ा पद्धति
Solar Radiation	सौर्य विकिरण
Specialised	विशिष्ट
Step Flaking Technique	सोपानपद फलकीकरण प्रविधि
Steep	सीधा
Stone-Age Economy	पाषाणयुगीन आर्थिक दशा
Straight	सीधा
Stratigraphy	स्तरीकरण
Striking Platform	अघात-स्थल
Sub-humid Phase	उप-आर्द्रकाल
Swinging Technique	स्विंगिग पद्धति

T

Taiga	टायगा
Technological	तकनीकी
Tectonic	विवर्तनिक
Temperate zone	समशीतोष्ण- कटिबन्ध
Terminal Flat-base	समतलान्त उपकरण
Terminal Moraine	अन्तिम मोरेन
Terrace	वेदिका
Tertiary	तृतीयक
Texture	संरचना
Thalassostatic	समुद्रीय जल-तल परिवर्तनजनित
Thermal Action	तापीय कारण
Third Wet phase	तृतीय आर्द्रकाल
Thumb-nail Scraper	अंगुष्ठ-नख स्क्रेपर
Tool Assemblage	उपकरण उद्योग
Tortoise Core	कच्छप कोर
Trap	सोपानाश्म
Trapeze	समलम्ब चतुर्भुज
Transverse Sand-dunes or Barkans	बेड़ा रेत का टीला
Triangles	त्रिभुज
Triangular Handaxe	त्रिभुजाकार हैण्डऐक्स
Triassic	रक्ताश्म काल
Tropical Zone	उष्ण कटिबंध

Tundra — उत्तर ध्रुवीय
Turtle-back — कच्छप-पृष्ठ
Typological — प्रकारात्मक

U

Unifacial — एक पक्षीय
Unifacial Retouching — एक पक्षीय पुनर्गठन
Unilateral Flat-base — एक पार्श्वीय समतल उपकरण
Unilateral Nucleates — एक पार्श्वीय केन्द्रक
Unprepared Striking Platform — अकृत्रिम आघात-स्थल
Upper Carboniferous — उच्च अंगार काल
Upper Palaeolithic — उच्च-पूर्वपाषाण काल
Unretouched — अनगढ़ित
Unutilised Flake — अनुपयोजित फलक
Utilised Flake — उपयोजित फलक

V

Varve — अनुवर्षस्तरी
Varve Analysis — अनुवर्षस्तरी विश्लेषण
Ventral — उदर-पक्षीय
Very Regular — क्रमवद्ध

W

Working Edge — कार्यांग

Z

Zoologists — प्राणिशास्त्रवेत्ता

अनुक्रमणिका

भ